UNIVERSAL LIBRARY

OU_186429

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 574 T 48 D Accession No. H 3464

Author टॉमसन, जे. आर्थर

Title दैनिक जीवन में जीव-विज्ञान 1963.

This book should be returned on or before the date last marked below.

दैनिक जीवन में जीव-विज्ञान

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—७२

दैनिक जीवन में जीव-विज्ञान

लेखक

जे० आर्थर टॉम्सन

अनुवादक

कामेश्वर सहाय भार्गव

प्राध्यापक

वनस्पति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय,

गोरखपुर

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६३

Checked 1965

[Translated into Hindi from J. Arthur Thomson's "Everyday Biology", Hodder and Stoughton Ltd., London, Toronto.]

Checked 1969

मूल्य
तीन रुपये, पचास नये पैसे
३.५०

मुद्रक
नरेन्द्र भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी

प्रकाशकीय

जीवन क्या है, उसका आरंभ कैसे हुआ, बुद्धि तथा मन, ऊर्जा, गति और क्रिया, भोजन की प्राप्ति तथा उसका सदुपयोग, शारीरिक क्षय की पूर्ति, स्नायु-प्रतिष्ठान, ज्ञानेन्द्रियों के कार्य, रुधिर, हारमोन, आनुवंशिकता, नवीन का उद्भव, आदतों तथा परिस्थितियों का प्रभाव आदि जीव-विज्ञान सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों की जानकारी इस पुस्तक में बड़े सरल और मनोरंजक ढंग से करायी गयी है। जीवन में प्रतिदिन देखी-सुनी जानेवाली वस्तुओं और घटनाओं के आधार पर सिद्धान्तों, नियमों एवं प्रक्रियाओं का विवेचन किया गया है जो एक तरह से वैज्ञानिक होते हुए भी विद्वत्ता और गंभीरता के बोझ से दवा न होकर यथेष्ट हलका-फुलका तथा सामान्य पाठकों के भी समझने लायक है। उद्देश्य है जीव-विज्ञान सम्बन्धी सामान्य जिज्ञासा का समाधान तथा और अधिक ज्ञान की भूख को बढ़ावा-उकसावा देना। मूल की यह विशेषता हिन्दी अनुवाद में भी अक्षुण्ण बनाये रखने की चेष्टा की गयी है जिससे साधारण शिक्षा-प्राप्त हिन्दी-प्रेमियों को भी विषय समझने में कठिनाई न होगी।

ठाकुरप्रसाद सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

अध्याय विषय			पृष्ठ
१—जीवन का आविर्भाव (उद्गमन)	...	...	१
२—जीवन की अनबूझ पहेली	...	...	७
३—गति में जीवन	...	...	१२
४—"शरीर के यत्र"	...	...	१८
५—भोजन की प्राप्ति और उसका उपयोग	...	...	२३
६—तंत्रिका-तंत्र	...	...	३२
७—ज्ञानेन्द्रियाँ कितने प्रकार की होती हैं?	...	...	३९
८—प्राणी-व्यवहार	...	...	५०
९—रुधिर (रक्त)	...	...	५५
१०—उष्ण तथा शीत	...	...	६०
११—हारमोन	...	...	६९
१२—जीवनरूपी गृह के पत्थर तथा गारा	...	...	७५
१३—मुर्गे (कुक्कुट) तथा मुर्गियां	...	...	८१
१४—वैयक्तिकता एवं विशिष्टता	...	...	८७
१५—सजीव भूत एवं आनुवंशिकता	...	...	९९
१६—आदतों व वातावरण का प्रभाव	...	...	१०४
१७—नवीन का उद्गमन	...	...	१०९
१८—वृद्धि और उसके तरंग-चिह्न	...	...	११३
१९—संक्रमण व रोग	...	...	११८
२०—जीवन-सूत्र की अवधि	...	...	१२५

अध्याय १

जीवन का आविर्भाव (उद्गमन)

"जीवधारियों का आविर्भाव किस प्रकार हुआ ?" यह प्रश्न मानव के लिए अतीत काल से ही एक गूढ़ पहेली के रूप में चला आ रहा है और ऐसा ही तब तक रहेगा जब तक कि उसका कोई उचित उत्तर न मिल जाये या मानव की जिज्ञासा का अन्त न हो जाये। 'जीवधारी' शब्द से हमारा तात्पर्य आधुनिक पौधों तथा जानवरों से नहीं है, वरन् उन प्रारम्भिक जीवधारियों से है जो इन सब के पूर्वज थे। अब प्रश्न यह आता है कि उस सूक्ष्म तथा रहस्यमय क्रिया का, जिसे हम जीवन कहते हैं, आरम्भिक रूप क्या था ? जब हम जीवन का वर्णन करते हैं तब अधिकतर हमारा तात्पर्य जानवरों अथवा पौधों तथा उनके वातावरण के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया एवं आदान-प्रदान से होता है। जीवित रहना जीवधारी एवं उसके वातावरण के बीच **प्रहार तथा विलगाव** का व्यापार है। परन्तु जीवन ? वह तो एक अद्वितीय क्रिया है, जो किसी जीवधारी का अपना रहस्य है।

महत्त्व का पहला कदम—एक पादरी ने एक रसिक फ्रांसीसी महिला को सेंट डेनिस के चमत्कार की वह कथा सुनायी जिसमें वह अपना कटा हुआ सिर हाथ पर रखकर पेरिस की दीवारों के चारों ओर बहुत दूर तक निकल गया था। उसे सुनकर महिला ने कहा—"हाँ श्रीमान्, वह एक घटना थी जिसमें केवल प्रारम्भिक प्रयत्न ही कठिन था।" यह केवल एक रूपक कथा है। यह सत्य है कि आदि काल से चले आ रहे जैव विकास की प्रक्रिया बहुत कुछ आश्चर्यजनक एवं रहस्यमय बनी हुई है, क्योंकि वैज्ञानिक खोजों ने विकास-प्रक्रिया के कारणत्व से अधिक किसी तथ्य को भी परिपुष्ट नहीं किया है। जीवधारियों की उत्पत्ति कैसे हुई इसकी अपेक्षा उनके विकास की समस्या कहीं अधिक सरल है। एक बार क्रियारत जीवधारी को पा लेने के पश्चात् उसके विकास के लिए उत्तरदायी कारणों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक परीक्षण एवं युक्तियुक्त परिकल्पना के लिए मार्ग खुल जाता है। इससे भी पहले का प्रश्न तो यह है कि अजैव जगत् में, नये संश्लेषण के समान, जीवधारियों का उद्गम कैसे हुआ ?

प्रस्तावित उत्तर—इसका प्रथम उत्तर वैज्ञानिक न होकर इन्द्रियातीत है। यह जीवन की चमत्कारिता तथा उसकी रहस्यमयता पर बल देता है तथा मानता है कि जीवधारी की उत्पत्ति ऐसी विधि से हुई है जो वैज्ञानिक अनुभव से परे की वस्तु है। जैसा कि कहा गया है—"जीव-द्रव्य मुट्ठीभर धूल है जिसे ईश्वर ने अभिमंत्रित किया है।" परन्तु सम्भवतः यह प्रत्येक वस्तु के विषय में कहा जा सकता है और यह कितना भी सत्य क्यों न हो, तब भी हमारी जिज्ञासु प्रवृत्ति को शान्त नहीं कर पाता। यह वैज्ञानिक उत्तर के विपरीत तो नहीं है, परन्तु यह विज्ञान की भाषा में न होकर अन्य भाषा में है। इसके विरुद्ध आपत्ति तभी उठती है जब कि यह भावी खोजों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहता है। इसे "अज्ञात" कहने में आपत्ति नहीं हो सकती, परन्तु इसे "अज्ञेय" समझना भी ठीक नहीं होगा।

दूसरा उत्तर वैज्ञानिक ढंग पर अज्ञानपरक है। यह निस्संकोच भाव से कहता है कि हम कुछ नही जानते; यह इस बात की आशंका प्रकट करता है कि क्या हमारे पास पर्याप्त सामग्री है, जिसके आधार पर हम इस प्रश्न को उचित रूप से प्रस्तुत करने के अधिकारी हों। यह पूछता है कि क्या हम निश्चित रूप से कह सकते है कि जीवन का सचमुच कभी प्रारम्भ हुआ था? क्योंकि संभव है कि जीवन का रहस्य भी उतना ही प्राचीन हो जितना ऊर्जा तथा विद्युत् का। इन मूल तत्त्वों के आविर्भाव के विषय में हम कभी भी परेशान नहीं होते। यह स्थिति अत्यधिक सतर्कता की है क्योंकि प्रश्न पूछना कोई बड़ी बात नहीं। खतरा तो अपरिपक्व एवं अपूर्ण उत्तर से संतोष कर लेने में ही है।

क्या जीवाणु अन्यत्र से लाये गये?—तीसरा उत्तर केल्विन (Kelvin), हेल्महॉज (Helmholtz) तथा दूसरे लोगों द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि 'सूक्ष्म सचेतन जीव' पृथ्वी पर किसी और स्थान से आया होगा। वह दूसरे ग्रहों से आनेवाले उल्कापिंडों की दरारों में रह कर या, रिखट्र (Richter) के मतानुसार, धीरे-धीरे नीचे उतरती हुई अन्तरिक्ष किरण-धूलि के साथ अथवा, जैसा कि आर्हीनियस (Arrhenius) ने सुझाया है, प्रकाशमान दीप्तिकम्पनों के द्वारा वाहित होकर अथवा प्रक्षेपित होकर नीचे पृथ्वी पर आया होगा। यह अपूर्व सिद्धान्त जीव के उत्पन्न होने की समस्या को पृथ्वी के बाहर किसी और ग्रह पर ले जाता है, परन्तु समस्या को फिर भी बिना सुलझाये ही छोड़ देता है। यदि सरल सचेतन जीव पृथ्वी पर कहीं बाहर से आये तो वहाँ वे कैसे उत्पन्न हुए? लार्ड केल्विन के इस सिद्धान्त में कि "सचेतन जीव पृथ्वी पर उल्का की दरारों में रहकर आयें" प्रमुख कठिनाई

यह है कि उल्का के वायुमण्डल की अत्यधिक शीतलता तथा उष्णता आदि दशाओं में निकलते समय यह जीव जीवित कैसे रह गया ? दूसरी ओर बर्थेलो (Berthelot) ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि अत्यन्त साधारण प्रकार के जीव चरम शीतलता तथा उष्णता विना किसी घातक प्रभाव के सहन कर लेता है। उसकी जीवन-प्रक्रियाएँ समाप्तप्राय, निलम्बित अथवा धीमी हो सकती हैं मानो वे विनाश-बिन्दु तक पहुँच गयी हों, परन्तु अनुकूल वातावरण प्राप्त होते ही वे पुनः अपनी प्राकृतिक दशा को प्राप्त कर लेती है। आणविक विघटन ही ऐसा है जो उनके लिए घातक सिद्ध होता है।

विकासवादी उत्तर—चौथा उत्तर यह है कि पृथ्वी के तल पर सूक्ष्मतम जीवधारी निर्जीव तत्त्वों से ही विकसित हुआ होगा, उदाहरणार्थ किण्वन द्वारा सक्रिय किये गये किसी कलिलीय कार्बनमय अवपंक से। इस प्रकार की घटना का कोई उदाहरण ज्ञात नही है, किन्तु हमें अपने अनुभव को ही सिद्धान्त अथवा दृढ़ नियम नहीं मान लेना चाहिए कि जीवन, जीवन से ही उत्पन्न होता है। "स्वतो जनन" के ये विचार विकासवादी धारणा के अनुरूप ही है। ये जटिलता एवं संकुलता बढ़ानेवाली विश्व की मूल प्रवृत्ति के भी अनुकूल हैं। एलेक्ट्रान एवं प्रोटान परमाणु बनाते हैं, परमाणु मिलकर अणु बनाते हैं एवं अणु मिलकर बड़े अणु (व्यूहाणु) बनाते हैं और इस भाँति जटिलता बढ़ाने की प्रक्रिया अग्रसर होती रहती है। यह सिद्धान्त संश्लेषक रसायनज्ञ द्वारा प्राप्त परिणामों से भी मेल खाता है, जो कि कृत्रिम रूप से द्राक्षशर्करा, आक्सेलिक अम्ल, नील एवं केफीन जैसे कार्बन यौगिक बना सकता है। पिछले कुछ वर्षो में कृत्रिम संश्लेषण द्वारा प्रोटीन बनाने का प्रयत्न किया गया है। ये एलब्यूमिन की भाँति के वे कार्बन यौगिक हैं जो जीवन के भौतिक आधार के सार्वत्रिक एवं अत्यावश्यक अंश हैं। परन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि आधुनिक रसायनज्ञ जटिल प्रांगारिक यौगिक बनाने में जिस विधि का प्रयोग करते हैं वह इस बात पर सम्भवतः प्रकाश न डाल सके कि प्रकृति में किस भाँति वही यौगिक बनता है। रसायनज्ञ आक्सेलिक अम्ल का संश्लेषण कर सकता है परन्तु उसकी विधि अम्लिका (wood sorrel) की पत्तियों की प्रयोगशाला (अर्थात् प्रकृति) में काम में लायी जानेवाली विधि के समान नहीं है। यदि जीव को सुदूर अतीत में निर्जीव से बना हुआ मान लिया जाये तो हमें यह खोज निकालने की कठिनाई का सामना करना ही पड़ेगा कि वे कौन-सी संभावित प्रक्रियाएँ हैं जो प्रकृति में उस विवेकी रसायनज्ञ का स्थान ग्रहण कर सकती हैं जो वस्तुओं को चुनने, छाँटने और

उन्हें एक में मिलाकर नयी वस्तु तैयार कर देने का यत्न करता है। इसलिए अब हम कुछ ठोस सुझावों पर विचार करेंगे।

स्वतो-जनन सिद्धान्त—एक मूर्त सुझाव सायनोजन (CN) से आरम्भ होता है, जो कि कार्बन एवं नाइट्रोजन के संयोग से बनता है। यह और इसके यौगिक अत्युष्ण ताप में उत्पन्न हो सकते हैं। अतः संभवतः जिस समय पृथ्वी अग्नितप्त थी, उसी समय ये बन गये होंगे। सायनोजन के यौगिक अस्थायी होते हैं और सुगमता से दूसरे यौगिकों से बंधों द्वारा संयुक्त हो सकते हैं, विशेषकर उस समय जब ठंडी होती हुई पृथ्वी के तल पर पानी अवक्षेपित हुआ हो। यह एक सम्भावित विधि है जिसके द्वारा सजीव पदार्थ का पृथ्वी पर आविर्भाव हुआ होगा।

दूसरा संकेत इस तथ्य में पाया जाता है कि जब विद्युत्-प्रवाह वाष्प एवं कार्बन डाइआक्साइड के मिश्रण में प्रवाहित किया जाता है, तब दोनों मिलकर सम्भवतः फार्मेल्डिहाइड (Formaldehyde) जैसे साधारण प्रांगोदीय (कार्बोहाइड्रेट) बनाते हैं। इसी प्रकार की प्रक्रिया ज्वालामुखी के ऊपर वायुमण्डल में बिजली चमकते समय और कभी-कभी, जैसा कि कहा जाता है, सूर्य के अनवरत प्रकाश के प्रभाव से भी, धीरे-धीरे हो सकती है। पिछले कुछ समय में यह बताया गया है कि वाष्प एवं कार्बन डाइआक्साइड का मिश्रण अधिक काल तक एक विशेष प्रकार के प्रकाश के प्रभाव में रखे जाने पर उसी प्रकार फार्मेल्डिहाइड बनाता है जैसे कि वह हरी पत्तियों में बनाता है। अमोनिया अथवा इसके लवणों में से, साधारण कार्बोहाइड्रेट नाइट्रोजन लेकर एमीनो अम्ल बना सकते हैं जो जीवन के "आधार भूत तत्त्व" कहे गये है। उत्तरोत्तर बंध-निर्माण एवं विविध लवणों की सूक्ष्म मात्रा समाहित करके एमीनो अम्ल संभवतः प्रोटीन बना देते है जो कि सजीव पदार्थ के मुख्य अवयव है। सम्भवतः किसी खनिज लवण द्वारा "उत्प्रेरक" के रूप में कार्य करने से कार्बनमय नाइट्रोजीनस अवलेह पूर्णतया परिष्कृत कर दिया गया। "उत्प्रेरक" वह पदार्थ है जो एक मिश्रण के अवयवों में प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है और स्वयं इस क्रिया में प्रत्यक्ष रूप से भाग न लेकर प्रतिक्रिया को चालू रखता है।

कुछ और भी संकेत इस सिलसिले में प्राप्त होते हैं जो "संदेहपूर्ण" हैं, परन्तु हमारा आशय यही है कि निर्जीव से सजीव की उत्पत्ति केवल कपोलकल्पना ही नहीं है, इसका मूर्त स्वरूप आगे और स्पष्ट होता जायगा।

अवधान—परन्तु एक विवृत मानसिक प्रत्याशा के कारण हमें वैज्ञानिक सतर्कता का परित्याग नहीं कर देना चाहिए और न इस जटिल समस्या को सुगम ही मान लेना

चाहिए। जीवित प्राणियों में मुख्यतः चार सामान्य रासायनिक तत्त्व (कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सीजन और नाइट्रोजन) ही होते हैं। ये (कार्बन डाइआक्साइड, वाष्प तथा नाइट्रोजन के रूप में) ठंडी होती हुई पृथ्वी की सतह पर या उसके आस-पास एक बड़ी मात्रा में उपलब्ध थे। दूसरी ओर प्रकृति में सजीव प्राणियों के अतिरिक्त जीव-द्रव्य और कहीं नहीं मिलते, एवं सजीव प्राणी जीव-द्रव्य का एक छोटा-सा पिण्ड मात्र नहीं है। यह ऐसी इकाई है जो सदा परिवर्तित होती रहती है, परन्तु फिर भी कुछ समय के लिए सदैव एक-सी प्रतीत होती है। यह सचेतन जीव बढ़ता और बहुगुणित होता रहता है; वह एक कार्यकर्त्ता है जो कार्य तो करता ही है, साथ ही अपने अनुभवों को लेखबद्ध भी करता है। जीवधारी की उत्पत्ति के कारण खोजने का प्रयास करते समय हम इसी विशाल एवं अद्वितीय रहस्य को समझने की चेष्टा करते हैं। जब हम चेतना के लक्षणों के विषय में विचार करते हैं तब हम यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि जीवधारियों के निर्जीव पदार्थो से आविर्भाव की बात यों ही बिना किसी झिझक के नहीं कही जा सकती।

विकास में निरन्तरता—यदि संश्लेषक रसायनज्ञ पहले की ही भाँति कार्य करते रहें एवं कृत्रिम रूप से प्रोटीन बना सकें और यदि इस कल्पना के बारे में कि आदिकाल में कभी सचेतन जीव निर्जीव पदार्थों से बना था, अधिक तथ्य एकत्रित किये जा सकें, तो इन से जीव-जगत् के विषय मे हमारी धारणाओं में अधिक परिवर्तन नहीं हो पायेगा क्योंकि उद्‌भव के कारण से किसी प्राणी का महत्त्व अथवा मूल्य नहीं बदल जाता। किन्तु जिसे हम सदा "निश्चेष्ट" या "जड़" कहते रहे है उसके बारे में यह हमारे गुणावगुणज्ञान को बढ़ा देगा। यदि पृथ्वी के धूलिकणों ने सचमुच किसी समय प्राकृतिक रूप से जीवधारियों को जन्म दिया हो, यदि वास्तविक रूप में जीवधारी पृथ्वी की मिट्टी एवं सूर्य के प्रकाश से ही उत्पन्न हुए हों, तो यह समस्त संसार शाश्वत तथा जीवनयुक्त हो जाता है और निर्जीवों का आर्तनाद तथा कठिन परिश्रम अधिक समझ में आने लायक हो जाता है।

"मन" का अस्तित्व ?—इसमें किसीको भी संदेह नहीं कि हाथी बहुत समझदार होता है, और उसके अन्दर सोचने, अनुभव करने एवं इच्छा करने की आन्तरिक शक्ति होती है। प्राणी का एक वास्तविक स्वरूप (दशा) वह भी है जिसे हम संक्षेप में उसका "मानस" कहते हैं। जब हम हाथी से अमीबा की ओर अग्रसर होते हैं तब मानस या मन की उपस्थिति उतनी स्पष्ट नहीं रह जाती; लेकिन फिर भी यदि हम विकास में निरंतरता के सिद्धान्त को मानते हैं तो हमें अमीबा में मानसिक शक्ति

के बीजभूत (मूलभूत) तत्त्वों को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसी भाँति शिशु में भी, प्रौढ़ मनुष्य से उसकी तुलना करने पर हम दोनों पहलुओं--शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक---के विद्यमान रहने में पूर्णतया विश्वास करते हैं। इसी तर्क को यदि हम और पीछे ले जायें कि सर्वप्रथम प्राणी निर्जीव से उत्पन्न हुआ होगा तो जीवन-स्तर से नीचे उस अविकसित अथवा परोक्ष मानसिकता का चिह्न भी मौजूद होना चाहिए, जो पौधों में सुषुप्तावस्था में (फूलों के रूप में सुखद स्वप्न सँजोये) रहती है और जानवरों की श्रेणी में अधिकाधिक जाग्रत होती जाती है; क्योंकि हम अरस्तू के उस विचार को मानते है कि अंत के हिस्से में ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता जो किसी न किसी रूप में प्रारम्भ में विद्यमान न रहा हो।

अध्याय २

जीवन की अनबूझ पहेली

जीवधारियों का एक अपना रहस्य होता है जो निर्जीवों में नहीं पाया जाता। परन्तु वस्तुतः यह रहस्य है क्या, इसकी खोज अभी तक कोई नहीं कर सका है। यह हमें इस प्रश्न पर विचार करने से नहीं रोकता कि उसमें ऐसी क्या विलक्षणता है, जिसे हम जीवन कहते हैं।

जीवन क्या है ? इस प्रश्न का व्यवहारवादी उत्तर क्या हो सकता है ? यही कि पर्यावरण एवं जीव के बीच दोहरा पारस्परिक सम्बन्ध है। बाह्य परिस्थितियाँ जीवित प्राणी को प्रभावित करती हैं। कभी उसे गरमी पहुँचाती हैं और कभी ठंडक, कभी प्रकाशित करती हैं अथवा अंधकार में रखती हैं, कभी उत्तेजित करती हैं अथवा कुंठित। इसी भाँति प्राणी भी अपने बाह्य वातावरण पर प्रतिक्रिया करके उसे हटा देता या परिवर्तित कर देता है अथवा उसका उपयोग करता या फिर उसे नष्ट कर देता है।

परिवर्तित होने पर भी स्थिरता—पर्यावरण के प्रभाव के साथ ही हम भोजन के प्रभाव को भी सम्मिलित कर सकते हैं क्योंकि भोजन पर्यावरण का ही वह अंग है जिसे जीव उदरस्थ कर लेता है। हरे पौधों में, जो अपना भोजन वायु एवं पृथ्वी से प्राप्त करते हैं, खाद्य एवं पर्यावरण में विभेद करना भी अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार फीताकृमि (Tapeworm) जैसे परजीवी के विषय में जो कि पोषक थे पाचक नाल में अर्धपाचित भोजन में तैरते रहते हैं या मानव के रक्त में विचरण करते हुए सुषुप्त रोग जीव ट्रिपेनोसोम (Trypanosome) के विषय में भी कोई विभेद कर सकना सम्भव नहीं। जीव-विज्ञान के अनुसार भोजन भी पर्यावरण के ही अन्तर्गत आता है।

हक्सले ने जीवित प्राणी की तुलना उस प्रसिद्ध जलावर्त भँवर से की थी जो नियागरा प्रपात से तीन मील नीचे स्थित है—

"भँवर स्थायी है, परन्तु इसे बनाने वाले जल-कण निरन्तर बदलते रहते हैं।

जो कण एक ओर से प्रवेश करते हैं वे चक्कर खाने लगते हैं और क्षणमात्र के लिए भँवर के व्यक्तित्व का अंग बन जाते हैं और जब वे दूसरी ओर पहुँच इससे विलग होते हैं तब दूसरे कण उनका स्थान ले लेते हैं। एक मील दूर से देखने पर यह (जल-प्रपात के नीचे एकत्रित हुई लहर) पानी की एक स्थिर चट्टान-सी दृष्टिगोचर होती है। निकट से देखने पर यह भौतिक कणों के द्रुत-प्रवाह द्वारा उत्पन्न किये गये विरोधी आवेगों की एक प्रारूपिक व्यंजना-सी ज्ञात होती है। इसी प्रकार इतने अधिक यंत्रों तथा औजारों के होने पर भी हम क्रेफिश (Crayfish) की बावत कुछ नहीं पता लगा सकते। यदि हम देख पाते तो हमें ज्ञात होता कि यह भी प्राणी में एक ओर से प्रवेश व दूसरी ओर से निर्गमन करने वाले भौतिक कणों की उथल-पुथल से उत्पन्न हुआ उसी प्रकार के विरोधी आवेगों का स्थिर रूप है।"

यह रोचक दृष्टान्त यह मूल सिद्धान्त व्यक्त करता है कि जीवित प्राणी निरंतर परिवर्तित होते हुए भी अपनी एकता या अखंडता स्थिर रखता है। यह अपने अनवरत परिवर्तन के कारण ही शान्त वायु में भ्रमित वलय की भाँति दृढ़ रहा करता है।

अधःपात और ऊर्ध्वगमन—समस्त जीवित प्राणियों में कार्बन यौगिकों का अनवरत ह्रास तथा निर्माण होता रहता है, विशेषकर ऐसे प्रोटीनों का जैसे अण्डे की सफेदी। प्रोटीन उपापचयन क्रिया समस्त जीवधारियों की विशेषता है और आवश्यक रासायनिक क्रियाएँ दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—उपचय रूप एवं अपचय रूप। भोजन खाया जाता है एवं इस तरह परिवर्तित कर दिया जाता है कि अन्त में वह उन प्रोटीनों, शर्कराओं, वसाओं एवं अन्य कार्बन यौगिकों का स्थान ले लेता है, जिनका ह्रास हो जाता है या जिनका उपभोग किया जा चुकता है। परन्तु इसमें महत्त्व की बात यह है कि लम्बे समय तक चाहे वह हजार मिनट या हजारों वर्ष का ही क्यों न हो, जीवित प्राणी दोनों क्रियाओं में संतुलन बनाये रखता है। वह गतिमय संस्था है। वह स्वयं ईंधन लेने वाला तथा स्वयं अपनी मरम्मत करते चलनेवाला इंजन है।

पूँजीकरण—जब पोटासियम का एक टुकड़ा बर्तन में रखे पानी की सतह पर ध्वनि करते हुए घूमता है तब एक तीव्र एवं साधारण क्रिया होती है, परन्तु इससे भी अधिक तीव्र एवं जटिल क्रिया तालाब में पानी पर इधर-उधर तीव्र गति से तैरते हुए एवं ऊपर-नीचे जाते हुए भंग में होती है। पोटासियम के टुकड़े अपनी सम्पूर्ण क्रिया शीघ्र समाप्त कर देते हैं, परन्तु भृंग अपने व्यक्तित्व को बनाये रखकर जीवित रहता है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें केवल समय का ही अन्तर है क्योंकि अन्त

में भृंग भी मर जाता है। परन्तु यह तो विषयान्तर हुआ। विशेषता तो यह है कि विशेष समयों में संश्लेषणात्मक क्रियाएँ जीवित प्राण में इतनी कार्यशील हो जाती हैं, कि वे विनाशकारी क्रियाओं के प्रभाव की पूर्णतः क्षतिपूर्ति कर देती हैं। आदिम जीवित प्राणी अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करने योग्य नहीं था जब तक कि वह एक निश्चित अवधि तक जीवित न रह सके। सम्भवतः उसका जीवन एक दिन का ही रहा हो जो प्रथम रात्रि में ही शीत के कारण समाप्त हो गया हो। परन्तु मुख्य बात यह है कि अपने इस लघु जीवन में वह प्रज्वलित पोटासियम के टुकड़े अथवा गतिमय घड़ी के समान नहीं रहा होगा। वह तो किसी भाँति अपने अस्तित्व को बनाये रखने में ही प्रयत्नशील रहा होगा।

कोई भी जीवित प्राणी ऊर्जा उत्पन्न नहीं कर सकता, वह केवल उसे एक रूप से दूसरे में परिवर्तित ही कर सकता है। हरा पौधा सूर्य की रश्मियों की ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तित कर देता है, प्राणी अपने भोजन की रासायनिक ऊर्जा को गमन एवं ताप में परिवर्तित कर लेता है। जीवित प्राणी एक इंजन की भाँति ऊर्जा-परिवर्तक है। परन्तु साथ ही यह संचायक भी है, क्योंकि यह त्वरित गति से ऊर्जा का अवशोषण भी कर सकता है। इसका रहस्य पूँजीकरण ही है।

यान्त्रिक क्रिया की तुलना में प्राणी की विशेषता—लोहे की छड़ में जितनी ही अधिक-ताप शक्ति बढ़ायी जाती है उससे और अधिक बढ़ाना उतना ही अधिक दुष्कर होता जाता है, एवं उतनी ही आसानी से ताप का आंशिक विकिरण होने लगता है। परन्तु जीवित प्राणी में इसके विपरीत होता है। प्रोफेसर जौली (Joly) ने इसे संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"निर्जीव पदार्थ में ऊर्जा का परिवर्तन उन बातों से प्रभावित होता है जो ऊर्जा के परिवर्तन में गतिरोधक तथा ह्रास में सहायक होते हैं। जीवित प्राणी में ऊर्जा का परिवर्तन उन बातों से प्रभावित होता है जो परिवर्तन में सहायक एवं ह्रास में अवरोधक होती हैं। जीवित प्राणी प्राप्य ऊर्जा के प्रति आक्रामक-सा होता है, वह मितव्ययिता से उसका व्यय करता है एवं लाभ के कार्यो में उसका विनियोजन करता है, जब तक कि अन्त में मृत्यु उससे सब कुछ छीन नहीं लेती।"

मृत्यु भी सम्भवतः जीव के अन्दर की प्रयोगशाला (कोशिका) के उपस्करण की टूट-फूट के कारण होती है, न कि जीव तत्त्व की स्वयं की शक्तियों के किसी स्वाभाविक विकार के कारण। हम यथार्थ रूप से नहीं जानते कि जीव का यह विशेष गुण किन बातों पर आधारित है। प्रत्येक जीवित कोशिका में एक जटिल रासायनिक

संस्था कार्य करती है; जीवित तत्त्व कलिल दशा में रहता है जिसमें ऊर्जा सम्बन्धी अद्भुत गुण हुआ करते हैं। इसमें ऊर्जा की प्राप्ति के लिए सक्रिय रूप से बाह्य पर्यावरण का उपयोग करने की क्षमता होती है जिसे हम दूसरे शब्दों में भोजन ग्रहण करना कहते हैं। परन्तु जीवधारी का विशिष्ट गुण यह है कि इस विश्व में जहाँ बड़ी-बड़ी घड़ियाँ अपनी चाल के साथ अपना जीवन (चाभी) समाप्त कर रही हैं, वहाँ यह ह्रास को अपने संचय से संतुलित रख सकता है। जीवन का अर्थ प्रोटीन और अन्य संकीर्ण (Complex संमिश्र) पदार्थों का उपापचयन है, परन्तु यह ऐसे रूप में होता रहता है कि जीवधारी अपनी अखण्डता दिनों, वर्षों या सदियों तक बनाये रखता है। यही नहीं, जो प्रतिधारित रहता है वह एक विशिष्ट वस्तु है—एक रासायनिक वैयक्तिक वस्तु, एक विशेष सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म स्थापत्य है। वह स्वयं सचेतन जीव ही है; अन्य कुछ नही।

दैनिक चमत्कार (अलौकिक घटनाएँ)—जीवधारी की एक इंजन से तुलना करना कुछ बातों में लाभदायक है, परन्तु यह तुलना उस समय नहीं ठहर सकती जब हम जीव में प्रतिदिन होनेवाले आश्चर्यजनक परिवर्तन—आकार में बढ़ना, संख्या में वृद्धि होना तथा विकसित होना आदि—देखते हैं। हम फिटकरी के संतृप्त घोल में एक छोटे-से फिटकरी के मणिभ (क्रिस्टल) को डालकर उसका बढ़ना देख सकते हैं, परन्तु यह मणिभ अपने ही जैसे पदार्थ को लेकर बढ़ सकता है। इसके विपरीत घास, वायु तथा मिट्टी के पानी पर और घोड़े का बच्चा घास खाकर बढ़ता है। बढ़ने तथा द्विगुणित होने के बीच स्पष्ट अन्तर कर सकना सम्भव नहीं, क्योंकि कली का खिलना अथवा एक से दो में विभाजित होना असतत विकास से अधिक कुछ अर्थ नहीं रखता। यदि हाइड्रा (Hydra) के नीचे का एक तिहाई भाग काट दिया जाये तो उसका अग्र भाग फिर बढ़कर पूर्ण हो जायेगा तथा कटा हुआ भाग भी बढ़कर एक नये हाइड्रा का रूप ले लेगा।

निर्जीव जगत् में हम, कुछ हद तक मणिभ को छोड़कर, इस भाँति की क्रिया नहीं देखते। एक अमीबा (amoeba) के विभक्त होकर दो अमीबा बन जाने की समस्या युगल तारे के उत्पन्न होने से भी अधिक जटिल है। सबसे आम और साधारण घटना अण्डे की जर्दी में के एक छोटे से स्वच्छ बिन्दु से बच्चे का बनना एवं पैदा होना है। जटिल तत्त्वों का परिवर्तन होकर एक साधारण असंयुत रूप, यह संघनन जो अधिकतर अवस्थाओं में सूक्ष्मदर्शीय होता है, एवं इस आभासित असंयुत दशा से प्रत्यक्ष जटिलता का आविर्भाव, जीव की विशेषता मानी जानी चाहिए।

व्यवहार, पंजीयन एवं परिवर्तन—अन्त में जब हम जीव की कार्य करने की शक्ति, अपने अनुभवों का अभिलेखन या पंजीयन करने और नवीन संतति के उत्पादन की शक्ति देखते हैं, तो सम्भवतः हम वस्तुस्थिति के वहुत निकट पहुँच जाते हैं। यदि बारूद से भरी बन्दूक में एक दियासलाई लगा दी जावे तो तुरन्त ही उसका परिणाम मिल जाता है, किन्तु वह आत्मघातक होता है। इसके विपरीत उद्दीपक पदार्थ के संसर्ग में आते ही जीव की प्रतिक्रिया आत्मरक्षक होती है। एक जीव घातक सिद्ध होनेवाले विष अथवा मृत्युदायी अनधिकार प्रवेश करनेवाले अणुजीव का भी प्रायः प्रभावकारी प्रत्युत्तर देने में सफल हो जाता है। यह गुण कम विशिष्ट नहीं है—और यह अमीबा जैसे अविकसित जीव से ही प्रारम्भ हो जाता है—यह अपनी क्रियाओं को शृंखलाबद्ध कर सकता है जिसका परिणाम विशिष्ट व्यवहार के रूप में प्रकट होता है—पहले वह किसी अभिप्राय के सदृश प्रतीत होता है, फिर उच्च स्तर पर प्रयोजनात्मक तथा अन्त में अभिप्राययुक्त होता है।

जीवधारी अपने अनुभवों से लाभ उठाता है। जीवधारी के अन्दर उसका अतीत इस भाँति विद्यमान रहता है कि हमें निर्जीव जगत् में उसके सदृश वस्तु वहुत ही धुँधले या परोक्ष रूप में प्राप्त होती है। लगभग इतना ही विशिष्ट नवीन संतति का आविर्भाव है, चाहे हम उसे एक अलौकिक वस्तु, कोई अनोखी चीज या प्रकृति की विकृत रचना अथवा कोई खेल, उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) अथवा एक विभिन्नता कहें। जीवित प्राणी में परिवर्तन का सतत निर्झर झरता रहता है। अवश्य ही कुछ जीवों में यह दूसरों की अपेक्षा अधिक गतिशील हुआ करता है। अन्त में क्योंकि जीवित प्राणियों की मानसिक क्रिया, अधिक विकसित प्राणियों में बिलकुल स्पष्ट और निर्विवाद हो जाती है, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि यह सचाई हमारे सामने व्यक्त होने का निरन्तर प्रयत्न करती रहती है। सम्भवतः यही जीवन का प्रधान रहस्य है।

अध्याय ३

गति में जीवन

बेकन ने वस्तुओं की रहस्यमय गति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करना ही विज्ञान का एक लक्ष्य निर्धारित किया है और यह सब जानते हैं कि हमारे जीवन का दिन प्रतिदिन का अनुक्रम प्राणमूलक गति पर आधारित है । इनमें से कुछ क्रियाएँ— जैसे श्वास-गति हम वास्तव में देख सकते हैं, दूसरी, हृदय की धड़कन-जैसी, का हम अनुभव कर सकते हैं । परन्तु कुछ और क्रियाएँ, जैसे हमारी श्वासनाल को अन्तः-स्तरण करनेवाली रोमिकाओं की अविरत गति, बहुत सूक्ष्म है । सबसे महत्त्वपूर्ण है समस्त प्राणधारक परिवर्तनों में आवृत्त अणुओं का नृत्य, जो अतिसूक्ष्म है । फिर भी यह स्मरण रखना रुचिकर है कि एक तरल माध्यम में कणिकाओं की स्पंदित गति, जैसी कि जीव तत्त्व में होती है, सूक्ष्मदर्शीय यंत्र दिखाई देने वाले उन कणों के कारण है जो कि नृत्य करते हुए अदृष्ट अणुओं द्वारा ढकेले जाते हैं । परन्तु यहाँ हम जीवित प्राणियों की मूल रहस्यमय गति पर नहीं, वरन् दृष्टिगोचर होनेवाली समस्त गति पर विचार करना चाहते हैं । हाँ, यह बात हम सदा ध्यान में रखते हैं कि यह दूसरी गति प्रथम पर ही निर्भर है ।

प्राणियों के संचरण के प्रकार— प्रोफेसर एफ० डब्ल्यू० गैम्बल (Prof F·W. Gamble) अपनी मनोरम पुस्तक "एनीमल लाइफ" (Animal Life) में बताते है (हम यहाँ स्मृति से उद्धृत कर रहे हैं) कि प्राणियों में गति के चार मुख्य प्रकार हैं । इनको हम नदी के सीधे शान्त प्रसार पर नाव में बैठे एक आदमी की कल्पना करने से सदा ध्यान में रख सकते हैं । प्रथम वह एक काँटेदार लग्गी लेकर उसको वेदमजनूँ (Willow) वृक्ष की जड़ों से बाँध कर मन्द प्रवाह के विपरीत नाव को खीच सकता है । यह खींचनेवाली विधि स्पष्ट लक्षित होती है जब कि एक जौंक अपने अग्रचूषक को कहीं बद्धकर अपने शरीर के आगे की ओर बढ़ाती है अथवा उस समय होती है जब एक स्टारफिश (Starfish) अपने उपयोजित अनेक बीसियों नाल पादों को संकुचित कर किसी चट्टान के किनारे अपने आप को खींच-कर स्थिर कर लेती है ।

दूसरी विधि यह है कि मनुष्य एक बाँस लेकर नदी के तल के विरुद्ध नाव को ढकेले। इस प्रकार बाँस से खेने की विधि पृथ्वी पर रहनेवाले उन प्राणियों में बहुत मिलती है जो अपने अंगों को उत्तोलक की भाँति पृथ्वी पर दबाव डालने के काम में लाते हैं। एक भृंग अपनी छः टाँगों पर चतुरतापूर्वक एक के बाद एक का प्रयोग कर चलता है। हम द्विपदीय मानव प्राणी भी वही करते हैं, अपने बायें पैर से पृथ्वी पर भार देते समय एवं आधे सेकंड बाद ही सीधे पैर से वही क्रिया करते समय लगभग तीन सौ पेशियों का उपयोग करते है। जिस भाँति जौरदें (Jourdain) नहीं जानता था कि वह अपने सारे जीवन भर गद्य ही बोलता रहा, उसी भाँति हममें से बहुत-से इस बात से अनभिज्ञ हो सकते है कि चलते समय हम पृथ्वी पर बाँस से नाव को ढकेलने के समान ही क्रिया करते जाते हैं।

तीसरी विधि में नाव के पिछले भाग में बैठा आदमी चप्पू लेकर वेग से ढेर-सा पानी बारी-बारी प्रत्येक ओर हटाता है। यह परिचित चप्पू-चालन-विधि मछलियों में स्पष्ट निर्दशित होती है। वे पानी के समूह को अपने पेशीयुक्त पिछले भाग द्वारा दृढ़ता से बलपूर्वक झटका देकर एक के बाद दूसरी ओर दूर फेंक देती हैं। इसी भाँति ह्वेल (whale) की पूँछ भी एक शक्तिमय नोदक का कार्य करती है, किन्तु यह एक ऐसा नोदक है जो घूमता नहीं है। ऊदबिलाव (beaver) की पूँछ भी खेने के काम में आती है और एक रोचक उदाहरण विविध समुद्र सर्पो का है जिनकी पूँछ या पूँछ से भी आगे तक का भाग चपटा होता है जो इन लचीले प्राणियों को तैरते समय पानी पर एक सुदृढ़ पकड़ देने में समर्थ होता है।

चौथे उदाहरण में मनुष्य नाव में बैठ दो चप्पुओं से उसे खेता है। हम इस भाँति का खेना वाटर बोटमैन (water boatman) नामक कीड़े में पाते हैं जिसकी दो टाँगें लम्बे फलकों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। इसी प्रकार की गति अपने पैरों से तैरनेवाले जल-पक्षियों में पायी जाती है चाहे उनके पैर जालयुक्त हों अथवा नहीं। बहुत-से तैरनेवाले स्तनधारी भी इसी प्रकार की गति अपने अगली अथवा अगली और पिछली टाँगों से एक साथ पानी पर आघात कर करते हैं। न उड़ सकने वाला पेंगुइन (penguin) अपने हिलानेवाले पंखों को चप्पुओं की भाँति उपयोग में लाता है और डुबकी खानेवाला पेट्रल (petrel) अपने पंखों को पानी के अन्दर रखकर तैरता है और वास्तव में उड़ता हुआ ही पानी में से निकलकर वायुमंडल में आता है। हमारी नदियों में पाये जानेवाले डिपर (dipper) अथवा वाटर-ऊज़ल (water-ouzel) में भी पंखों का पानी के अन्दर प्रयोग करने का मनोरंजक

उदाहरण मिलता है। इस प्रकार के उदाहरण हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता देते हैं कि उड़ना चाहे पक्षी का हो या कीट का, चमगादड़ का अथवा पूर्वकालीन ड्रेगा का, उसकी तुलना हवा में खेने से की जा सकती है। इस भाँति प्रोफेसर गैम्बल (Gamble) के विचार के अनुसार हम प्राणियों की चार प्रकार की गतियों की तुलना काँटेदार लग्गी से खींचने, बाँस से ढकेलने, नाव के पिछले भाग पर से डाँड़ चलाने अथवा दो पतवारों द्वारा नाव खेने से करते हैं।

गति की अद्भुत रीतियाँ—मनुष्य अनेक जटिल एवं कौतूहलपूर्ण उदाहरण पाने को तत्पर रहता है। जैलीफिश (jelly fish) अपने बिम्ब की परिधि घटा लेती है एवं इसके द्वारा छोटी की गयी अवतलता से पानी को शक्तिपूर्वक बाहर कर देती है जिसकी तुलना सम्भवतः पिछले भाग से नाव को डाँड़ द्वारा चलाने की रीति से की जा सकती है। कटल फिश (cuttle fish) द्वारा प्रयोग में लायी जानेवाली विधि के लिए भी हम वही नाम दे सकते हैं। वह अपने विशाल आवरण-गर्त को पानी से भर लेती है, उस छिद्र को जिसमें से होकर पानी प्रविष्ट हुआ बन्द कर लेती है, फिर बलपूर्वक आवरण गर्त को छोटा कर लेती है और एक संकुचित कीप द्वारा पानी को बाहर फेंक देती है। बाहर निकलते हुए पानी के प्रवाह की शक्ति कटलफिश को आगे की ओर ढकेलती है, परन्तु कुछ उदाहरणों में पेशीयुक्त मीनपक्ष भी एक लहराती गति के साथ उपस्थित रहते हैं। इससे मिलता हुआ ही स्केलोप्स (scallops) व द्विपट लीमा (Lima) का सुन्दर तैरना होता है, क्योंकि इनमें भी दोनों कवच कपाटों के तीव्र उपसादन तथा खाल के युग्मित स्तरों से बननेवाले आवरण (जो प्रकवच बनाते हैं) द्वारा पानी आवरण गर्त से बाहर फेंक दिया जाता है।

एक सी-अरचिन (sea urchin) समुद्री किनारे की चट्टानों पर अनेक चूषक नाल पादों द्वारा चढ़ती है। कभी-कभी उसके कण्टक बाँस से खेने-जैसी क्रिया कर इसकी सहायता करते हैं। परन्तु एक जमी हुई कीचड़ की समतल सतह पर यह अनुपम विधि दिखला सकती है—इस पर वह अपने दाँतों से लँगड़ा कर चलती है। निम्नतर स्तर से लगे हुए मुख से पाँच दाँतों का अग्रभाग होता है जो 'अरस्तू (Aristotle) की लालटेन' कहलाता है तथा यह अत्यन्त कारगर चर्वण यंत्र है। यह लालटेन शक्तिशाली पेशियों द्वारा इधर से उधर हिलायी जाती है एवं पाँचों दाँत अपने अग्र भाग द्वारा एक उत्तोलक की भाँति कार्य्य करते हैं जिससे सी-अरचिन (sea urchin) एक साम्य की स्थिति से उछलकर दूसरी में आ जाती है एवं धीरे-धीरे आगे बढ़ती है। अधिकतर ब्रिटल स्टार (brittle-star) में, जो

सी-अरचिन का निकट सम्बन्धी है, नाल पाद इतने छोटे होते हैं कि वह चलने के काम में नहीं आ सकते और जो क्रिया होती है वह पाँच व्यायाम-कुशल बाहों द्वारा निम्नतर स्तर दबाने से एक विचित्र प्रकार का रेंगना होता है। यदि ब्रिटल स्टार को रेत पर उठाकर पानी में छोड़ दिया जाय तो वह अपना रेंगना जारी रख सकता है एवं पाँच खेने के बाँस पाँच चप्पुओं का कार्य करते हैं।

चट्टान पर सर्प—सर्प का साधारण सरकना भी लग्गी से नाव खेने का बहुगुणित रूप कहा जा सकता है। शक्तिशाली अधर शल्क से उपयोजित चर्मपेशियाँ होती हैं जिनका संकोचन पीछे के पार्श्वों को उठा देता है जिससे कि वे पृथ्वी के उभड़े हुए हिस्सों को पकड़ लेते हैं। परन्तु प्रत्येक गतिशील पसली की हड्डी का निचला सिरा एक शल्क से बद्ध रहता है और जब पसली पीछे की ओर दूसरी पेशियों द्वारा खींची जाती है तब शरीर निम्नतर आधार के ऊपर, जिसको शल्क जकड़ लेता है, आगे बढ़ता है। इसमें शल्क के ऊपर उठने व पसली के खींचने की क्रिया में प्रत्यावर्तन का आधान होता है और जब कि एक भाग पहली क्रिया करता है तब उससे निकट का भाग दूसरी। रस्किन (Ruskin) ने सर्प के बारे में कहा है "हर एक पसली को पतवार के समान प्रयोग कर पृथ्वी पर खेता हुआ" और "अपने शरीर के किनारों से धूल को ग्रसित करता हुआ।" परन्तु क्योंकि इसकी गति एक दृढ़ निम्नतर आधार को दबाने पर अवलम्बित है इसलिए इस क्रिया को बाँस द्वारा खेने की क्रिया कहना हम अधिक अच्छा समझते हैं। सर्प द्वारा एक द्रुत झटका अथवा आगे की ओर झपटना एक दूसरे प्रकार की गति है जो कि इसके शरीर के मोड़ों के आकस्मिक सीधे किये जाने के कारण होती है।

गति का रहस्य—हम प्राणी की गति की वास्तविक अन्तःप्रकृति के सम्बन्ध में बहुत कम जानते है, यह बात लज्जास्पद एवं उत्तेजक दोनों ही है। सबसे साधारण माने जानेवाले जीव-अमीबा (amoeba) का उदाहरण देकर इसका निर्देश किया जा सकता है। यह फिसलता है, बहता है, लुढ़कता है (प्राणि-शास्त्र की पुस्तकें देखिए), फिर भी हम नहीं समझ पाते कि वह कैसे अपने सुव्यस्थित लहरदार पथ पर आगे बढ़ता है। सम्भवतः प्रवाहित गति ही जीवित तत्त्व की मूल गति है जिसकी तुलना केटरपिलर ह्वील या टैंक (tank) से की गयी है। जिस दिशा में अमीबा अग्रसर होता है ऊपरी सतह पर उसी दिशा में कणों को अग्रसर होते देखा जाता है। वे अग्रभाग पर पहुँचकर लुप्त हो जाते हैं और पिछले भाग पर पुनः प्रगट हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अमीबा ने टैंक की गति पूर्वावधारित

कर ली हो। परन्तु जीवित तत्त्व की प्रवाहित गति के साथ-साथ छोटे-से प्राणी की सबसे बाहर की परिधि में तल-तनाव के परिवर्तन होते हैं और सम्भवतः निम्नतर आधार का जकड़ना भी साथ ही होता है। परन्तु हम अब भी अमीबा की गति के सम्बन्ध में कुछ नहीं समझते।

इसी भाँति अपनी पेशियों की सहायता से चलने वाले बहुकोशिक प्राणियों में चलने की क्रिया एक रहस्य ही रहती है, चाहे वह लग्गी खींचने के समान अथवा बाँस से खेने के समान हो, या एक और दो डाँड़ों से खेने के समान हो। क्योंकि पेशियों के संकुचित होते समय सर्वप्रथम जब कि प्रत्येक जीवित सूत्र एवं जीवित तन्तु लम्बाई में घटकर चौड़ाई में बढ़ता है और कार्य करता है, तब कोई दहन नहीं होता, न आक्सीजन ही ली जाती है और न कार्बन डाइआक्साइड ही बनती है, ताप का उत्पादन भी नहीं होता केवल पेशियों के तत्त्व से लैक्टिक अम्ल के अणु पृथक् हो जाते हैं। यह एक भौतिक क्रिया मात्र प्रतीत होती है, जिसकी तुलना स्प्रिंग के खुलने से की जा सकती है। दूसरे खण्ड में अवश्य कार्बोहाइड्रेट का उपचयन तथा कार्बन डाईआक्साइड और ताप का उत्पादन होता है और यह शक्ति लैक्टिक के अणुओं को पुनः अपने स्थान पर पेशियों के तत्त्व में स्थापित करने में प्रयुक्त होती हैं। हमारा मन्तव्य यह है कि अमीबा तथा अन्य अनेक एककोशीय जीवों में जीवद्रव्य के प्रवाह की भाँति संकोचन की सारभूत विधि अभी भी बहुत रहस्यमय है।

वायु में गरुड़—एक बार पुनः जब हम सबसे उत्तम दर्जे की गति से अभिमुख होते हैं जिसे हम एलबेट्रौस (albatross) तथा गिद्ध का उड़ना कहते हैं तो हमें यह मानना पड़ता है कि यह हमारे लिए बहुत आश्चर्यजनक है। एलबेट्रौस बिना पंखों के आभासित आधान के जहाज के चारों ओर लगातार आध घंटे तक महान् दीर्घवृत्त बनाता रहता है। यह हवा के साथ गतिवेग में ह्रास के स्थान पर आभासित वृद्धि के साथ तैरता रहता है। शरीर को तिरछा कर यह हवा के विपरीत मुड़ जाता है, गतिवेग में ह्रास होता है, परन्तु सम्भवतः वह ऊँचाई पर चला जाता है। वह फिर मुड़ता है एवं आरम्भ से इसी भाँति क्रिया चलती रहती है। इसी प्रकार गिद्ध भी आकाश में बड़े सर्पिल बनाता है। कुछ लोग एलबेट्रौस एवं गिद्ध के समान पक्षियों के हवा में तैरने की क्रिया को समझने का दावा करते हैं, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे जो कुछ जानते हैं उसे अपने पास छिपाकर रखने में सफल हुए हैं। हम यह नहीं सुझा रहे हैं कि इसमें कुछ जादू है, सम्भवतः पक्षी अपनी स्थिति की ऊर्जा को गमन की ऊर्जा में एकान्तर रूप से तब तक परिवर्तित करता रहता है जब तक कि

फिर वह अपने पंखों में शक्तिशाली आघातों के द्वारा संवेग प्राप्त नहीं कर लेता; सम्भवतः वह वायु में असम गतिवेग के प्रवाह का लाभ उठाता है और पंख के जटिल अधःतल के विरुद्ध मन्द पवन का दबाव अवश्य ही जटिल परिणामों में प्रगटित होगा। अवश्य ही हवा में तैरने का आश्चर्य भी कभी समाप्त हो जायेगा यद्यपि सम्भवतः वह अपनी जटिलता के कारण गणितज्ञों के अतिरिक्त और सबके लिए व्याख्यातीत ही रहे। हमारा तात्पर्य केवल यही है कि चाहे हम लुढ़कता हुआ अमीबा लें या अपना नित्य का टहलना या वायु में गिद्ध की उड़ान, जीव की गति एक ऐसा रहस्य है जिसके बारे में हम सुगमता से कुछ कह नहीं सकते।

अध्याय ४

"शरीर के यंत्र"

हम सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith) के बहुत ऋणी हैं जिनकी पुस्तक Engines of the Human Body मनुष्य के ढाँचे के विवरण के सम्बन्ध में सम्भवतः सबसे रोचक है। इसका मुख्य विषय मानव शरीर के कार्यो की इंजन के कार्यों से तुलना करना है।

जीवित मोटर—पहाड़ी सड़क पर चाहे हम मोटर साइकिल से चढ़ें चाहे पैदल, निश्चय ही हम यांत्रिक कार्य द्वारा ही चोटी पर पहुँचते हैं। प्रथम साधन में आवश्यक ऊर्जा अन्तरदहन यंत्र (इंजन) से आती है और द्वितीय में हमारी पेशियों से। परन्तु जब कि "एक धातु का इंजन क्रैन्क पिन (Crank pin) को ढकेलकर, अपनी शक्ति प्रयोग में लाता है और जिसके लिए उसमें एक अनम्य सिलिंडर एवं पिस्टन रौड होती है, पेशियों के यंत्र सदैव अपनी शक्ति का प्रयोग खींचकर एवं अपनी आकृति के परिवर्तन करके करते हैं। उनके पास लचीली पिस्टन रौड होती हैं जिनको हम कंडरा अथवा स्नायु कहते हैं।" पेशी एक "कर्षण" यंत्र है, मोटर साइकिल अथवा उसी भाँति के और यंत्र "धक्का देनेवाले" यंत्र है।

चलना-फिरना—जब हम चार मील प्रति घण्टे के हिसाब से चलते हैं, तब एड़ी उठाने एवं पैर आगे झुकाकर पंजे को दुबारा पृथ्वी पर रखने में केवल आधा सेकंड ही लगता है। "फिर भी इस आधे सेकंड में ही चौव्वन इंजन चालू किये जाकर वन्द तथा अनेक बार तेज कर मन्द किये जा चुके होते हैं।" जब हमारी बायीं टाँग आगे झूलती है तो हमारे शरीर का सारा भार "दायीं जाँघ की हड्डी के गोल चिकने एवं गेद के आकार के सिर पर अवलम्बित रहता है, यह वहाँ नितम्ब-सन्धि (hip-joint) को चारों ओर से घेरनेवाली लगभग पन्द्रह ऐसी पेशियों द्वारा सन्तुलित रहता है" जो गतिशील कर दी गयी होती है एवं एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य करती हैं।"यदि शरीर साहुल से तनिक भी अस्थिर या इधर-उधर होता है तो स्थिर टाँग की सन्तुलन करनेवाली पेशियाँ उसका प्रतिविधान करती हैं और यह व्यवस्था केवल नितम्ब-सन्धि पर ही कार्य नहीं करती, अपितु घुटने, टखने एवं तलुए की चाप पर भी

कार्य करती हैं। इसके अतिरिक्त कशेरुका से उपायुक्त एक सौ चव्वालिस पेशियाँ होती हैं जो हमारी रीढ़ की अस्थियों को सन्तुलित रखती है और हमारे गतिशील होने के समय उसको अनुचित रूप से आगे या पीछे झूलने नहीं देती। वास्तव में जब हम चलते हैं तो तीन सौ पेशियाँ काम करती है। "हर एक पग के साथ, हर आधे सेकंड पर लगभग ३०० इंजन कार्य करने लगते हैं, व्यवस्थित होते है और फिर बन्द कर दिये जाते हैं; इस प्रकार हर एक शरीर को आगे बढ़ाने में सहायता देने का अपना निर्धारित कार्य पूरा करता है।" इस भाँति हम सहयोगी कार्यशीलता के चमत्कार की एक झलक पाते हैं। यह हमें आश्चर्य में डाले बिना नहीं रहता कि हम चलने जैसा कठिन कार्य इतने वर्षों से सफलता से करते आ रहे हैं।

कार्यशील मनुष्य की बाँह की द्विशिरस्का पेशी में लगभग पाँच लाख तन्तु होते हैं, प्रत्येक तन्तु एक सूक्ष्मदर्शीय इंजन-रम्भ होता है, जिसकी तुलना मोटर साइ-किल के रम्भ से की जा सकती है। प्रत्येक इंजन तथा पेशी में दहन मिश्रण का संचरण होता है, दोनों में ऊर्जा उत्पन्न होती है, दोनों में स्फुलिंगप्लग के समान के उप-करण होते हैं, दोनों में जल तथा कार्बन डाईआक्साइड-जैसे दहन के साधारण क्षेप्य उत्पाद होते हैं। मोटर साइकिल में जब एक प्रभावी आघात होता है तब सिलिंडर के अन्दर का खाली स्थान बढ़ जाता है, पेशी में सिलिंडर स्वयं लम्बाई में घटकर चौड़ाई में बढ़ जाता है। इंजन में ईंधन के प्रजलन से पहिये को घुमानेवाली शक्ति प्राप्त होती है। जैसा कि पहले बता चुके हैं, पेशी में उपचयन (आक्साइडेशन) की क्रिया वास्तविक सिकुड़न की क्रिया से गौण होती है। उपचयन वास्तव में पेशी को उसकी उस वास्तविक स्थिति को पहुँचाने में प्रयुक्त होता है जो दूसरी सिकुड़न को सम्भव बनाती है। जैसा कि सर डब्ल्यू० एम० बेलिस (Sir W. M. Bayliss) का अभिमत है, "पेशी तंत्र उस वाति इंजन के सदृश है जो एक भंडार में वायु को दबाकर भरता है जहाँ से वायु अपने दबाव के कारण अनेक मशीनों एवं उपकरणों को चलाने के लिए ली जाती है। ईंधन के उपचयन द्वारा प्राप्त ऊर्जा इंजन से सीधी प्रयोग में नहीं लायी जाती।"

पेशियाँ युग्म में कार्य करती हैं—पेशियाँ सदा विपरीत युग्म में कार्य करती हैं और जब एक पेशी कार्य आरम्भ करती है तो मस्तिष्क को संदेश जाता है जिससे कि विरुद्ध पेशी प्रथम को उचित अवस्था तक कार्य करने देती है। वे अन्योन्य इंजनों के समान कार्य करते हैं।" जब हम एक पग आगे बढ़ते हैं तो तीन सौ इंजनों को गतिशील कर देते है और इनमें से प्रत्येक में से मस्तिष्क को संदेश जाते हैं और उतनी

ही संख्या में स्वतः नियंत्रण केन्द्रों से संदेश बाहर भेजे जाते हैं।" हम भयानक एवं आश्चर्यजनक रूप से बनाये गये हैं। और हमारे इंजन, जिनका रहस्य अब भी फिज़िआलोजिस्ट (कायिकीज्ञ) नहीं जान पाये हैं, दूसरी ही विशेषता रखते हैं। वे बहुत ही सुचारु रूप से, बिना किसी ध्वनि के साथ कार्य करते हैं। वे सदा एक क्षण की सूचना पर कार्य करने को तत्पर रहते हैं; उनमें से कुछ तो कभी भी कार्य करना बन्द नहीं करते, अन्य विश्राम कर लेते हैं; उनकी दक्षता का प्रमाण—किये गये कार्य का ईंधन के प्रदाय से अनुपात—लगभग २५ प्रतिशत है, जब कि मनुष्य द्वारा बनाये गये सर्वोत्कृष्ट इंजन में प्रभावी कार्य का ईंधन की ऊर्जा से अनुपात २० प्रतिशत से अधिक नहीं होता। फिर वे अपनी मरम्मत खुद कर लेनेवाले इंजन हैं जिनमें व्यायाम के अतिरिक्त देखभाल करने की कोई आवश्यकता नही पड़ती। हमारी पेशियाँ बहुत सूक्ष्म होती हैं, परन्तु कुछ निम्न श्रेणी के प्राणियों में उससे भी बढ़कर सूक्ष्म पेशियाँ मिलती हैं। हमें यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि भिनभिनाती मक्खी अपने पंखों की पेशियों को एक सेकंड में दो सौ बार संकुचित करती है।

शरीर के उत्तोलक—मोटर साइकिल में उत्तोलक जटिल चक्र की भाँति के होते है जब कि हमारे शरीर में साधारण किंतु जीवित उत्तोलक होते हैं। कपाल, जिसका रीढ़ से सम्बन्ध अभियांत्रिक का एक अद्‌भुत नमूना है प्रथम श्रेणी का उत्तोलक है; पैर द्वितीय श्रेणी का, तथा भुजा के अगले हिस्से और हाथ के द्वारा कोहनी के अवलम्ब से तृतीय श्रेणी का उत्तोलक बनता है। परन्तु यह सब बहुत अधिक सरलता-द्योतक है। "हम धातु के उस इंजन के बारे में क्या सोचेंगे जो अपने कार्य करने के ढंग को बदल सके जिससे वह एक बार पिस्टन शलाका द्वारा कार्य कर सके और दूसरी बार सिलिंडर द्वारा? परन्तु मानव शरीर की अधिकतर पेशियों के इंजन नित्य यही करते रहते है।" और ये उत्तोलक जीवित होते हैं—अस्थियों के अन्दर का भाग अस्थि कणिकाओं रूपी सूक्ष्मदर्शीय इकाइयों से पूर्ण रहता है जो छत्ते में कार्य-रत मक्खियों के समान कार्य करते हैं। उनमें से लगभग बीस लाख एक बच्चे की जाँघ की हड्डी के निर्माण के समय कार्यरत रहते हैं और जब तक निर्माण पूर्ण होता है वे बढ़कर लगभग पंद्रह करोड़ की सेना बना लेते हैं। "जब वृद्धि पूर्ण हो जाती है तब यह सेना विघटित नहीं की जाती। यह कार्यो की देखभाल एवं जीर्णोद्धार हेतु एक स्थायी सेना की भाँति सुरक्षित रखी जाती है।"

इंजन के अन्य अवयव—उत्तोलक के पश्चात् स्वाभाविक रूप से हम स्नेहन-विधि पर विचार करेंगे, और यहाँ एक बहुत ही सुन्दर व्यवस्था मिलती है जिसके द्वारा

उपास्थि-निर्माता संयुत तल के क्षय की पूर्ति करते हैं और जब उनके कार्य करने का समय समाप्त हो जाता है तो वे घुलकर स्नेहन बना देते हैं। परन्तु पेशीयुक्त इंजन को ईधन की आवश्यकता होती है, अस्थियों के अन्दर कार्यकर्ताओं एवं संधियों पर स्नेहक को सदा अपना भंडार भरा रखना आवश्यक है और यह हमको शरीर के हृदयरूपी पम्प पर विचार करने को विवश करती है। प्रत्येक स्थान पर परागमन करनेवाली सूक्ष्म केशिकाओं द्वारा एक दहन मिश्रण (आक्सीजन व रुधिर शर्करा) पेशी सिलिंडर में लाया जाता है और निःशोषित पदार्थ अलग कर दिये जाते हैं।

मोटर साइकिल में अपना श्वसन कक्ष होता है जिसमें वायु अन्दर ले जायी जाती है और फिर बाहर निकाल दी जाती है। इसी भाँति हमारी छाती भी एक धौंकनी के जोड़े के समान है; वहाँ एक श्वास-नलिका या वायु-नलिका होती है, एक नाक अथवा नॉजल (Nozzle) होती है, फेफड़ों के अन्दर वायु-कक्ष है जहाँ लाल रुधिर मण्डलक आक्सीजन लेते है। श्वसन उत्तोलक को चलानेवाले इंजन एवं उत्तोलक स्वयं भी इस भाँति बने होते है कि वे हमारी वक्ष धौंकनी की सामने तथा बाजुओं की दीवारों को बनाते है एवं मध्यच्छद अथवा फर्श मौलिक रूप से इस भाँति बना होता है कि वह एक पिस्टन की भाँति कार्य करता है।

मनुष्य के शरीर और इंजन की तुलना को और आगे बढ़ाना हमारे क्षेत्र से बाहर की बात है, परन्तु हम दृढ़ता से पाठकों को सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith) की पुस्तक, जिससे हमने यहाँ उदाहरण दिये है, ध्यानपूर्वक पढ़ने का परामर्श देंगे। यह आवश्यक है कि हम उस विधि के बारे में सोचें जिसके द्वारा ताप के उत्पादन व प्रसार का नियंत्रण होता है, जिससे शरीर का पुज वर्षो तक एक ही तापमान ९८ से ९९ फारेनहाइट के मध्य स्थिर रहता है; उस शिल्पशाला तथा प्रयोगशाला के विषय में सोचें जहाँ ऊतक के लिए भोजन ईधन में परिर्वातित होता है; उस परिवहन व्यवस्था के बारे में सोचें जिससे मुँह से पेट तक भोजन पहुँचता है और उसके उस तात्कालिक कार्य करने वाले व्यवस्थापन के बारे में भी जो भोजन को आगे बढ़ने देता है; गलियारे का काम देनेवाली नाल के समान छोटी आंत (क्षुद्रांत्र) के बारे में सोचें जो शरीर में सबसे बड़ी व सबसे अधिक कार्यरत फैक्टरी है व लगभग २० फुट तक लम्बी है; यकृत कहलानेवाली महान् रासायनिक प्रयोगशाला एवं भंडार के बारे में सोचें; बड़ी आंत (बृहदान्त्र) के बारे में सोचें जो एक संकटग्रस्त फेक्टरी है क्योंकि भोजन की आधुनिक व्यवस्था में उन कर्त्तव्यों को प्रतिपादित करने के लिए बाध्य की जाती है जिसके लिए वह बनायी नहीं गयी, अतः हमको इसे सम्मानित तथा नियंत्रित करना आवश्यक है।

मोटर साईकिल में घूमते हुए दन्त चक्र के कई क्रमों द्वारा बनी हुई सहगामी अथवा सारिणी बद्ध रीति का अनुगमन रहता है। ये चक्र इस भाँति स्थापित किये हुए होते हैं कि ये क्रेन्क शैफ्ट द्वारा एक स्थिर गति से घुमाये जाते हैं, परन्तु मानव शरीर की समय-सारिणी बहुत भिन्न है। सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith) ने इसलिए बुद्धिमानीपूर्वक इंजन से तुलना छोड़कर एक सेना से तुलना की है। "हमारे शरीर अनेक सूक्ष्मदर्शीय जीवित इकाइयों द्वारा बने हुए हैं। हर एक इकाई की अपनी स्वतंत्र क्रिया होती है। इस क्रिया का पड़ोसी इकाई की क्रिया से समन्वय करना पड़ता है।" मस्तिष्क एवं मेरुरज्जु सेना का मुख्य केन्द्र के सदृश हैं और तंत्रिकाएँ तार-प्रणाली-व्यवस्था-जैसा काम करती हैं। वहाँ एक डाक-व्यवस्था भी होती है, जिसके द्वारा विशेष कुंजिका पत्र (key-missives) हारमोन आन्तरिक स्राव की इन्द्रियों द्वारा भेजे जाते हैं और रुधिर द्वारा उन मांस ऊतकों तक ले जाये जाते हैं जिन्हें वे सक्रिय बनाते अथवा नियंत्रित करते हैं। हारमोन (Harmone) के अणु, जो सिक्रेटिन (secretin) कहलाते हैं, आमाशय के ठीक नीचे अन्ननाली के एक भाग से आते हैं जो अग्न्याशय को पाचन-रस का स्रावण करने के लिए उद्दीप्त कर देते हैं। "इन को हम अतिसूक्ष्मदर्शीय येल (yale) कुंजी के समान मान सकते हैं जो पत्र-पेटियों के ऐसे तालों की खोज में बाहर भेजी गयी हों जिनमें वे ठीक बैठकर प्रवेश कर सकती हैं। वे केवल अग्न्याशय अणुओं की पत्र-पेटियों में ही ठीक बैठ कर प्रवेश कर सकती हैं, अतएव उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे शरीर में चारों ओर घूमें जब तक कि वे स्वतः अपना लक्ष्य नहीं पा लें। इस व्यवस्था में और भी आश्चर्यजनक बात यह है कि पत्र-पेटियों में, अथवा हम उन्हें ताले कहें, निर्धारित चाभी-पत्रों के प्रति एक सुनिश्चित आकर्षण होता है।"

मस्तिष्क अपने लाखों सूक्ष्मदर्शीय जीवित कार्यकर्ताओं एवं जीवित तारों सहित शरीर का सबसे उत्कृष्ट यंत्र है। "मानवीय मस्तिष्क, मेरुरज्जु एवं तंत्रिकाओं से तुलना करने योग्य अन्य व्यवस्था पाने के लिए हमें उन सब यंत्रों का अध्ययन करना होगा (परन्तु यंत्र ही क्यों ?) जो जीवित प्राणियों से बनते हैं एवं राष्ट्र बनाते हैं तथा जो सभ्यता के संभारयान को चलाते हैं।" वास्तविकता यह है कि इंजन से शरीर की तुलना ठीक नहीं बैठती और सेना अथवा राष्ट्र से भी इसकी तुलना बड़ी खींचतान से ही हो सकती है। जीवित प्राणी की एकीकृत नियम-व्यवस्था ऐसी है जिसे हम किसी और वस्तु का उदाहरण देकर नहीं समझा सकते।

अध्याय ५

भोजन की प्राप्ति और उसका उपयोग

हम सब देखते हैं कि जीव अपना भोजन शिकार द्वारा, मछली पकड़कर, बीन-बटोरकर अथवा अन्य कई एक विधियों में से किसी एक के द्वारा प्राप्त करते हैं, यहाँ भोजन उपलब्ध करने की आधारभूत विभिन्न विधियों के सम्बन्ध में एक गहरा और रोचक प्रश्न उपस्थित होता है। हम यह बताना चाहते है कि विभिन्न प्रकार के प्राणियों द्वारा उपयोग में लायी जानेवाली लगभग दस विधियाँ ऐसी हैं जो विवेक-संगत व्यवस्था में क्रमवद्ध की जाने योग्य हैं।

हरे पौधे की भाँति आहार-ग्रहण—हरे पौधे सूर्य की रश्मियों की ऊर्जा का प्रयोग करने में समर्थ होते हैं। जब रश्मियाँ हरे रंजक अथवा पर्णहरिम के माध्यम में चमकती हुई प्रविष्ट होती हैं तब पौधे वायु, वाष्प तथा लवण एवं विशेषकर कार्बन डाइ आक्साइड तथा वाष्प द्वारा प्रस्तुत अनिर्मित द्रव्यों का प्रयोग कर शर्करा एवं दूसरे कार्बन-यौगिकों के बनाने की विधि प्रारम्भ कर देते हैं। हरे बेल एनीमलक्यूल (bell-animalcule) एवं तैरनेवाले यूगलेनिड (Euglenids) जैसे हरे प्राणी भी हैं जिनके पास अपना निजी पर्णहरिम होता है और जो हरे पौधों की भाँति अपना भोजन प्राप्त कर सकते हैं। यह बहुत सम्भव है कि आदि-प्राणियों में से एक फ्लैजिलेट रहा हो जो पूर्व-कालीन समुद्र में स्वयं अपनी भोजन-व्यवस्था लेता हो।

पौधे साझेदार के रूप में—हरे अमीबा, प्रवाहित जल के हरे स्पंज तथा हाइड्रा, हरे सी-एनीमोन (sea-anemone), हरे कोरल (corals) एवं छोटा हरा कृमि कनवोल्यूटा (convoluta) आदि हरे प्राणी वास्तव में स्वयं हरे नहीं होते, वरन् उनके साथ सूक्ष्म हरे शेवाल सहयोगी रहते हैं। सहयोगी पौधे उनको रखनेवाले प्राणियों द्वारा उद्वासित कार्बन डाइ आक्साइड तथा नाइट्रजनी पदार्थों का उपयोग करते हैं और प्राणी पौधों द्वारा दिन के प्रकाश में निकाली हुई आक्सीजन तथा उनके द्वारा संश्लेषण की गयी शर्करा का प्रयोग कर लाभ उठाते है। सबसे बुरा यही हो सकता है कि प्राणी अपने सहयोगी का ही पाचन कर ले।

यही वह चीज है जिसे हम 'सहजीवन' Symbiosis कहते हैं। खुले समुद्र में तैरनेवाले सुन्दर रेडिओलेरियन (Radiolarians) द्वारा यह स्पष्ट रूप से दिग्दर्शित होता है। अधिकतर "पीले कोशिका" कहलानेवाले साधारण शेवाल उनके सहयोगी होते है जो रेडिओलेरियन के साथ एक पारस्परिक लाभदायक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।

शाकाहारी प्राणी—संसार के इतिहास में यह एक अद्‌भुत घटना थी जब आदिम प्राणी ने आदिम पौधों को उदरस्थ करना प्रारम्भ किया था। पौधे विस्फोटक पदार्थों का निर्माण करते हैं एवं शाकाहारी प्राणी उनको हस्तगत कर उन्हें काम में लाते हैं एवं उपद्रवों के लिए उनका प्रयोग करते हैं। पौधे वायु, जल तथा लवण जैसी साधारण मूल वस्तुओं को प्रयोग में लाकर अपनी सम्पत्ति का निर्माण करते हैं, एवं शाकाहारी प्राणी पौधों की संचित सम्पत्ति पर अधिकार कर उसका उपभोग करते हैं। घास खानेवाली गायें एवं समुद्र की उलझी हुई वनस्पतियों को चरनेवाली सी-स्लग (sea-slug) उच्च एवं निम्न श्रेणी के शाकाहारियों का निदर्शन करती हैं।

मांसाहारी—परन्तु संसार के इतिहास में वह दूसरी महान् घटना थी जब आदिम प्राणी दूसरे आदिम प्राणियों को उदरस्थ करने लगे और इस भाँति वास्तव में अधिक पोषक एवं संघनित तथा अधिक प्रोटीन युक्त भोजन पाने लगे। चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin) के पितामह डा० इरैसमस डार्विन (Dr. Erasmus Darwin) ने कहा था कि वे अपना शाकाहारी भोजन गोमांस तथा भेड़ के मांस के रूप में लेना पसन्द करते हैं क्योंकि वह अधिक पाचक होता है। यह उनकी इस तथ्य को व्यक्त करने की एक विनोदपूर्ण विधि थी कि मांस घास ही है। घास के भौतिक द्रव्य एक उच्च रूप में मांस के रूप में अवतरित हो जाते हैं।

समुद्र के घास-स्थलों में—स्थावर स्पंज (sponge) दिन भर में अनेकों गैलन जल अपने शरीर से निकाल देता है। यद्यपि वह चलता नहीं है तो भी उसे अपने भोजन के लिए वास्तव में कठिन परिश्रम करना पड़ता है। वह उन सूक्ष्म प्राणियों पर जीवित रहता है जो समुद्र के रस के जीवित समूह हैं। कस्तूरा (oysters), सी-स्कुअर्ट्स (sea-squirts), बारनेकल्स (Barnacles) एवं एकोर्न-शेल्ज़ (Acorn-shells) के समान अचल रहने वाले तथा लेन्सलेट्स (lancelets) के समान स्वतंत्र परन्तु बहुत कम गतिशील प्राणियों के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है। खुले समुद्र में १०० फैदम की गहराई तक बहुत सूक्ष्म प्राणियों के तैरते हुए समुद्री घास-स्थल हैं और उनमें से कुछ इतने सूक्ष्म होते है कि वे जाल के काम में आनेवाली

महीन सिल्क के सूक्ष्मदर्शीय जाल-छिद्रों में से भी निकल जाते हैं और ये खुले समुद्र में बहुत-से गतिशील प्राणियों का भोजन बनते है। इनमें कुछ पौधों की श्रेणी, कुछ प्राणियों की श्रेणी और कुछ दोनों के बीच के होते हैं।

टुकड़ों के खानेवाले—ग्रीष्म के प्रारम्भ में एक तूफानी रात्रि के पश्चात् हमें अनुभव होता है कि पृथ्वी पर कितना अपव्यय होता है। पृथ्वी कलिका शल्कों, अनुपत्रों, कोपलों एवं टूटे हुए फूलों से विकीर्ण रहती है। बहुत-से शाकाहारी कीट ऐसे अंशों को खाकर प्रसन्न होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जो पराग की वर्षा होने पर भोजन करते हैं।

समुद्री किनारे के उथले जल के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है। वहाँ समुद्री शैवाल एवं समुद्री घास कहलानवाले पुष्पयुक्त पौधों के विघटित अंशों का बहुत-सा कूड़ा-करकट एकत्रित हो जाता है। डेन्मार्क के समुद्री किनारों पर डेन्मार्क के खेतों में उत्पन्न होनेवाली घास से चौगुनी समुद्री घास एकत्रित हो जाती है और इसके सूक्ष्म टुकड़े (अंश) किनारे पर एवं गहराई में भी खाद्य पदार्थ का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंश है। यह "समुद्री धूलि" कहलाती है।

क्षय-पदार्थ का भोजन—बहुत-सी फफूँद एवं दूसरे कवक पौधे क्षय होते हुए पौधों व प्राणियों का भोजन करते हैं। बहुत-से छोटे सूत्रकृमि भी यही करते है। मछुओं का लौबवर्म (Lobworm) भी अपनी आहार-नाल को उपस्थित क्षय होते हुए अंशों के लिए, रेत से भर लेता है। समुद्री खीरा (sea cucumber) अपने पंख के समान स्पर्शिका को एक के बाद एक, कीचड़ में घुसाता है एवं उन पर रेत व प्रांगारिक कण लपेटकर उसे मुँह में डालता है; यह भी भोजन की एक विचित्र विधि है। क्षय पदार्थो का भोजन करनेवाले प्राणी पृथ्वी व उसके अन्दर के जल को स्वच्छ व मीठा बनाये रखते है। परन्तु यह भी स्मरण रखना होगा कि क्षय पदार्थ, सर्वत्र उपस्थित गलाने वाले अभिकर्ता जीवाणु द्वारा ही तैयार किये जाते हैं।

मेज़ पर बचे रोटी के टुकड़े—जिस भाँति सहचर का अर्थ एक ही रोटी में से खाने वाले से होता है उसी प्रकार जब दो प्राणी भागीदार के समान एक दूसरे की सहायता करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं तो हम उन्हें सहभोजी कहते है जिसका अर्थ एक ही पटल पर भोजन करना है। बहुत-से विरागी कर्कट उधार लिये हुए अपने कवच पर भागीदार सी-एनीमौन (sea-anemone) को बैठाये रखते हैं जो केकड़े के भोजन में से बहनेवाले टुकड़ों को अपना भोजन बनाते हैं।

आहार-नलिका में जीवन—बहुत-से प्राणी अन्य प्राणियों की आहार-नलिका में रहते हैं और अपने पोषक के पाच्य भोजन पर पलते हैं। फीता कृमि (tape worms)

व सूत्र कृमि (thread worm) इसके उदाहरण हैं। फीता कृमि के न मुख होता है, न आहार-नाल ही, इसलिए पोषक का पचित भोजन कृमि की त्वचा से ही प्रवेश करता है। यह दिलचस्प चीज है क्योंकि इसका अर्थ यह है कि कृमि पूर्णतः तरल भोजन पर जीवित रहता है, जैसा कि प्राणियों में साधारणतः नहीं पाया जाता। यदि हम जोंक अथवा पिस्सू के समान रक्त-चूषक प्राणियों के भोजन पर दृष्टिपात करें तो उनमें भी हमको पूर्णतः तरल भोजन नहीं मिलता, क्योंकि रक्त भी रक्त-कोशिकाओं से भरा होता है जो वास्तव में तरल पदार्थ नहीं हैं। हरे पतंग (Green flies) जैसे बहुत-से उद्भव चूषक, पौधों के तरल भोजन पर निर्भर रहते हैं। फीता कृमि के समान परजीवी अपने पोषक के भोजन पर ही जीवित रहते हैं जिनके साथ वह "जियो और जीने दो" का समझौता स्थापित कर लेते हैं।

परजीवी के लिए अपने पोषक को मारना लाभदायक नहीं है क्योंकि वह तो सोने के अण्डे देनेवाले हंस को मारने के समान है। इखनियोमोन पतंग (ichneumon fly) अपने अण्डे केटरपिलर (caterpillar) में देती हैं और अण्डों से निकलने वाले कीड़े केटरपिलर को ही उदरस्थ कर लेते हैं, परन्तु इनको हमें परजीवी का प्रति-रूपी उदाहरण नहीं मानना चाहिए। ये तो क्षुधार्थ जंगली जानवरों के समान हैं जो अपने आखेट को बहिर्मुख की अपेक्षा अन्तर्मुख होकर ग्रहण करते हैं और वह भी अपेक्षाकृत मन्द गति से।

परजीवी—हमने एक पूर्णतः स्वतंत्र प्राणी से जो पौधे की भाँति भोजन करने में समर्थ था, प्रारम्भ किया था और लिवर फ्लूक (Liver fluke) जैसे प्रायः परतंत्र प्राणी से अब हम अन्त करते हैं जो भेड़ के यकृत (liver) से रुधिर चूसता है। यह पूर्णतः परजीविता है—एक घृणित आरामदेह जीवन—दूसरे प्राणियों के जीवन पर जीवित रहना, क्योंकि रुधिर ही तो जीवन है।

जार्ज मेरेडिथ (George Meredith) ने लिखा, "इस उद्वेजन-हीन जीवन को ध्यान से देखो। वह अपवहित होता है; सजग जीवन अपनी गति पर अधिकार रखता है," जैसा कि प्रत्येक विवेकवान् प्राणी को करने की अभिलाषा करनी चाहिए।

शरीर का ईंधन—इस तरह हम देखते हैं कि भोजन पाने की अनेकों विधियाँ हैं। यदि हम हरे पौधों के प्रकाश-संश्लेषण की विधि को स्वाभाविक मानकर उस पर विचार न करें और एक साधारण प्राणी की आवश्यकताओं पर ही ध्यान दें तो हमें प्रत्यक्ष ही यह कहना पड़ेगा कि सभी उपभोग्य पदार्थों की कमी पूरी करने के लिए भोजन पर्याप्त होना चाहिए। मनुष्य बिना कार्य किये ही एक दिन में लगभग आठ पौंड वजन

खो देता है जिसमें से लगभग छः पौंड पानी होता है। प्राणी का शरीर कार्बनिक यौगिकों, अकार्बनिक लवण और पानी से बना होता है। कार्बनिक यौगिकों में नाइट्रोजनीय प्रोटीन और अनाइट्रोजनीय कार्बोहाइड्रेट तथा वसा होती है। जीवित रहना इन पदार्थों का उपभोग करना है। और यह कमी भोजन द्वारा पूरी होनी चाहिए। पनीर के टुकड़े के रूप में प्रोटीन, आलू के रूप में कार्बोहाइड्रेट मण्ड, थोड़ा-सा मक्खन वसा के लिए और एक सेब, जल तथा दूसरे उपसाधनों की कमी पूरी करने के लिए मनुष्य का पूर्ण भोजन हो सकता है।

परन्तु भोजन को क्षयमान तत्त्वों की कमी ही पूरी नहीं करनी होती, जैसा कि भँवर में आये हुए जल को भँवर से निकले हुए जल की पूर्त्ति करनी पड़ती है, वरन् उसको प्राणी के द्वारा किये जाने वाले कार्य के लिए ऊर्जा भी प्रदान करनी होती है। स्वस्थ जीवन की मौलिक अनिवार्यता यह है कि प्राणी द्वारा की गयी क्षति पूरी करने के लिए भोजन पर्याप्त हो। भोजन के ऊर्जामान का ऊष्मा के रूप में अनुमान किया जा सकता है। ऊष्मा की इकाई ऊष्मांक (कैलोरी) है जो १००० ग्राम जल का तापमान १° सेन्टीग्रेड के बढ़ाने के लिए आवश्यक ऊष्मा के बराबर होती है। वसा का एक ग्राम ९.३ कैलारी तथा कार्बोहाइड्रेट का एक ग्राम ४.१ कैलोरी ऊष्मा देता है और लगभग उतनी ही ऊष्मा एक ग्राम प्रोटीन देता है। वास्तव में प्रोटीन अधिक ताप देने योग्य है (५.७) परन्तु यह ऐसा ईंधन है जिसका शरीर में पूर्ण जारण नहीं हो पाता एवं बहुत-सा भाग विना जारण हुए ही (यूरिया के रूप में) व्यर्थ चला जाता है। इसी कारण आवश्यकता से अधिक प्रोटीन भोजन में नहीं लिया जाना चाहिए।

रेल के इंजन में जो कोयला जलाया जाता है वह विशेष कोटि का हो सकता है, परन्तु वह विशेष प्रकार से बनाया हुआ नहीं होता और हम उसकी राख से देखते हैं कि वह पूर्णतः उपयोग में नहीं आता। यदि कोयले से बनाया हुआ तेल ईंधन के प्रयोग में लाया जाय तो जारण से बचा हुआ भाग जो ऊर्जा दे सकता है वहुत कम होता है। इसी भाँति प्राणी के लिए यह लाभदायक है कि उसके भोजन में पूर्ण रूप से उपयोग में न आनेवाले पदार्थ बहुत कम हों यद्यपि एक निश्चित अंश तक प्रकाय या मात्रा का होना प्रायः आवश्यक होता है। एक सिद्धांततः पूर्ण तरल भोजन शीघ्र ही कुत्ते को रोगी बना देगा।

परन्तु जबकि इंजन की भट्टी में प्रज्वलित होते ही ईंधन जलकर उपयोग में आने लगता है, प्राणी को आहार-नलिका में भोजन का उपयोग करने के लिए उसे तैयार करने की आवश्यकता होती है। पहले उसका पाचन होना आवश्यक है जिसका तात्पर्य है

कि आहार घुलित होकर रासायनिक रूप से परिवर्तित हो जाय, जिससे कि वह रुधिर में अवशोषित किया जाकर सारे शरीर में वितरित हो सके।

भोजन की व्यंजन-सूची का विकास—आदि काल में मनुष्य जो कुछ भी पा जाता था वही खा लेता था, कभी बहुत कम कभी बहुत अधिक। परन्तु हम इन पूर्वकालीन प्रयोगकों के सम्बन्ध में वास्तव में पर्याप्त विचार नहीं करते जिन्होंने क्रमशः खाद्यपदार्थों की परम्परा स्थापित की और जिन्होंने कभी-कभी अपनी जिज्ञासा का दण्ड यातनाओं (बीमारियों) व मृत्यु के रूप में पाया था। मानव जाति के इतिहास में वह कैसा उल्लास-पूर्ण दिन रहा होगा जब एक सजगदर्शी एवं भूखे भ्रमणकर्ता ने जंगली गेहूँ के बड़े दानों को सम्भवतः फिलस्तीन में देखा, तथा उनको हाथ में मसलकर भूसे को उड़ाकर पृथक् किया और एक ग्रास मुख में लेकर धीरे-धीरे चबाकर खाया। यह इतना अच्छा लगा कि उसने उनको बार-बार बोने का निश्चय किया। वही आधुनिक संसार की गेहूँ की सम्पत्ति का प्रारम्भ था।

भोजन के इतिहास का पहला काल कठिन व तात्कालिक प्रयोगों का रहा जब तक कि भोजन की एक परम्परा स्थापित नहीं हो गयी और इस बात में संशय नहीं कि आदि मानव को आवश्यक भरण-पोषण के लिए भोजन बहुधा अधिक मात्रा में ग्रहण करना पड़ता था। हम अपने पूर्व इतिहास का दण्ड आज भुगत रहे हैं क्योंकि हमारी तीस फुट लम्बी आहार-नाल आधुनिक काल के नियमित अन्तराल पर लगभग ठीक समय पर खाये जाने वाले अत्यधिक पौष्टिक भोजन के लिए आवश्यकता से अधिक लम्बी है। हमारी भोजन सम्बन्धी सभ्यता का हमारे शरीर की तुलना में अधिक शीघ्रता से विकास हुआ है।

भोजन की आलोचना—जब मनुष्य ने पौधे उगाना व पशुओं का प्रजनन करना, पकाना तथा सामग्री संचित करना सीख लिया और वह जीवन-संघर्ष में दृढ़ स्थिति पर पहुँचा तभी अपेक्षाकृत अच्छा भोजन ग्रहण करने का दूसरा अध्याय आरम्भ हुआ। भोजन की आलोचना तथा निरीक्षण होने लगा, विशेषकर उनमें जो भाग्यवश अथवा अपनी चतुरता से सुविधाजनक स्थिति में थे। अनुभव से एक परम्परा स्थापित हो गयी बिना हानि के खायी जा सकनेवाली वस्तुओं की नहीं, अपितु इसकी कि कौन पदार्थ सबसे अधिक आनन्दकर व लाभदायक है। केवल विशेष भोज के समय को छोड़कर, जब बिरले स्वादिष्ठ पदार्थ प्रचुरता से उपलब्ध हों, अधीरतापूर्वक ठूँसकर खाना साधा-रणतः कम ही होता गया। ठूँस कर खाना उन लोगों में चलता रहता है जिनका निर्वाह कठिनता से होता है और जो कभी बिरले समय ही संतुष्ट होकर भोजन कर पाते हैं।

भोजन की आलोचना मानवीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण चीज रही है और यदि आज आलोचना अधिक हो तो मनुष्य का स्वास्थ्य भी अधिक अच्छा हो जायगा।

आहार सम्बन्धी विज्ञान—भोजन के इतिहास में तीसरा अध्याय बहुत आधुनिक है। यह आहार के विज्ञान का विकास है। हमें आशा करनी चाहिए कि बिना अच्छे रसोइये की परम्परापूर्ण जिज्ञासा को छोड़े हुए, जो एक प्रकार से उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना अच्छा निर्माता, आहार-पोषण के क्रिया-विज्ञान का उद्भव हो रहा है।

परन्तु फ़िज़िऑलोजिस्ट हमें विभिन्न भोजनों की सकल ऊर्जा-दायकता से भी अधिक जानकारी देते हैं; वे विभिन्न प्रकार के भोजनों के पाचन के सम्बन्ध में भी खोज कर रहे हैं और उनका ध्यान बुभुक्षा उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्म गुणों की ओर भी है। किन्तु ये दोनों कारक व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न पाये जाते हैं और इसी कारण वैज्ञानिक विवेचना के लिए भ्रांतिजनक होते हैं। परन्तु यह कहावत है कि "एक मनुष्य का भोजन दूसरे के लिए विष होता है" साधारण व्यक्तियों के लिए बहुत ही संकीर्ण अर्थ में सत्य है। कुछ व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रोटीन का उपयोग कर सकते हैं, परन्तु प्रोटीन की आवश्यकता हर व्यक्ति को ही होती है।

कभी-कभी विलासिताएँ भी आवश्यकताओं से अधिक आवश्यक हो जाती हैं और यह दिखाया जा चुका है कि बहुत-से भोज्य पदार्थों में कुछ अतिरिक्त तत्त्व सूक्ष्म मात्रा में होते हैं जो वास्तव में भोजन के मूल तत्त्वों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये "अतिरिक्त आहार तत्त्व" अथवा विटामिन हैं जो महायुद्ध के समय विख्यात हुए। उनकी खोज एक रहस्यपूर्ण बेरी-बेरी नामक पूर्वी रोग के सम्बन्ध में हुई थी जो जापान तथा फिलिपाइन में बहुत पाया जाता था। इसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध भोजन में केवल पालिश किये हुए चावल के खाने से पाया गया। खोज करने से मालूम हुआ कि पालिश करते समय चावल से पृथक किये गये भाग का निस्सार (एक्सट्रैक्ट) रोगी पर आरोग्य कारी प्रभाव करता है और यह निष्कर्ष निकाला गया कि चावल के बाहरी भाग तथा उसके अंकुर में कुछ ऐसे तत्त्व रहते हैं जिनकी उपस्थिति का अर्थ ही जीवन है (इसलिए विटामिन नाम पड़ा) और जिसकी अनुपस्थिति का अर्थ रोग अथवा मृत्यु है। यह अज्ञात तत्त्व पूर्णतः शुद्ध रूप में पृथक् नहीं किया गया है और इसकी रासायनिक रचना अस्पष्ट है, परन्तु हम जानते हैं कि यह कोई आवश्यक तत्त्व है—एक विटामिन है।

अब यह सर्वविदित है कि बेरी-बेरी की व्याधि केवल चावल खाने वालों में ही नहीं होती, परन्तु उन लोगों में भी हो जाती है जिनको भोजन के लिए अतिशय पेषित धान्य ही पर अथवा अतितापित (जैसे डब्बों में भरे) भोजन पर ही निर्भर रहना होता है। इसका

प्रतिविधान करनेवाला विटामिन "सम्पूर्ण धान" (जैसे जई क्वेकर ओट्स Quaker Oats) में होता है और विशेषकर भ्रूण में ही सीमित रहता है। यह मटर और सेम की फली, अण्डे और खमीर में बहुतायत से होता है तथा दूध और सब्जियों में रहता है। यह शुष्क अवस्था में अच्छी तरह रहता है।

वृद्धि-उद्दीपन–काम करनेवाले प्रत्येक मनुष्य के लिए ऐसे भोजन की आवश्यकता होती है जिससे प्रतिदिन ३००० से ४००० कैलोरी ऊष्मा प्राप्त हो सके। सिद्धान्ततः यह उसको एक पौंड शुद्ध वसा से प्राप्त हो सकती है, परन्तु व्यावहारिक रूप में उसे प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट तथा लवण का मिश्रित भोजन करना होगा। फिर हाल में ही हुए अनुसन्धान से पता चला है कि उसके लिए विटामिन (खाद्योज) भी लेना आवश्यक है, जिनकी मात्रा ताजे भोजन में सदा रहती है। लगभग दस वर्ष पूर्व छोटे चूहों तथा कुछ अन्य जीवों पर किये गये परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ कि जब केलौरी की अपेक्षित आवश्यकता के हिसाब से सिद्धांततः पूर्ण भोजन आवश्यक मिश्रित रूप में दिया गया हो तब भी प्राणी की शारीरिक वृद्धि नही हुई। यदि पूर्ण विकसित चूहे परीक्षण हेतु लिए जावें तो उनका भार घट जाता है। वे अपने क्षयकी पूर्ति नहीं कर पाते। परन्तु यह देखा गया कि नित्य के आहार में यदि दूध का कुछ प्रतिशत मिला दिया जाय तो वे प्राकृतिक स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। वृद्धि नियमित होने लगी एवं भार नही घटा। ये तथ्य दूध में विटामिन के अस्तित्व का संकेत देते हैं जो नियमित विकास के लिए आवश्यक है। इसके बाद के अनुसंधानों द्वारा चर्बी में विलेय विटामिन 'ए' की उपस्थिति का मक्खन और अण्डे के पीले भाग में तथा पानी में विलेय विटामिन 'बी' का चावल के पालिश द्वारा निकाले गये भाग, पनीर-जल तथा खमीर में अभिज्ञान हो चुका है। विटामिन 'बी' बेरी-बेरी का प्रतिविधायक Counter-active है, जो विशेषता विटामिन 'ए' में नहीं है।

जब सिद्धांततः पूर्ण आहार पर पोषित होनेवाला प्राणी स्वस्थ रहने में असफल हो जाता है अथवा उसमें वृद्धि नहीं हो पाती तो उतावलेपन में यह निर्णय नहीं कर लेना चाहिए कि विटामिन की कमी है, जब तक कि विटामिन का अर्थ कुछ अनजानी वस्तु न मान लें। हाल में ही सूअरों पर किये गये प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि अत्युत्तम आहार देने पर भी जिन सूअरों का स्वास्थ्य ठीक न था उनके भोजन में प्रचुरता से मटीले पदार्थ मिला दिये जाने पर वह स्वस्थ हो गये।

मनुष्य के लिए महत्त्व—मनुष्य सदा ही प्रकृति के साम्राज्य का कोई न कोई भाग विज्ञान के नाम पर विजित कर अपने में जोड़ता रहा है और अब यह प्रतीत होता है कि

स्कर्वी (Scurvy) के पुराने रोग का भी अन्त करने में वह सफल हो जायेगा। आलू के विकास के पहले यह रोग केवल नाविकों, सिपाहियों, खोज करने वालों अथवा सोने की खानों में कार्य करनेवालों तक ही सीमित नहीं था, वरन् वह घर पर रहने-वाले लोगों में भी पाया जाता था। यह एक भयंकर रोग है जो साधारणतः ताजे भोजन में पाये जानेवाले विटामिन के अभाव से होता है। इस रोग का निरोधक तत्त्व पानी में विलेय विटामिन 'सी' है, जो हरी सब्जियों, संतरा व नीबू जैसे फल और बहुत अधिक टुकड़े न किये हुए तथा कम पकाये गये आलू तथा अन्य कई ताजे खाद्य पदार्थों में भी होता है। यह खोज बहुत महत्त्व की है कि यदि मटर, सेम व अन्य दालों के समान की भारतीय दालों को एक दिन पानी में भींगने दिया जाय और एक दिन बिना किण्वन हुए अंकुर फूटने दिया जाय तो उसमें प्रचुर मात्रा में स्कर्वी-निरोधक विटामिन का आविर्भाव हो जाता है। परन्तु यदि बाद में उनको अधिक पका दिया जावे तो बहुत-सा विटामिन नष्ट हो जाता है।

स्कर्वी के विरुद्ध अभियान—स्कर्वी-निरोधक कार्य के लिए दाल को उबालने के स्थान पर वाष्प द्वारा पकाना चाहिए और यदि उबालना ही हो तो बहुत ही थोड़े पानी के साथ उबाला जावे जिससे सारा पानी उपयोग में आ जावे। स्कर्वी रोग के समान ही बालकों के कुछ अन्य रोग होते हैं जो भोजन में गाय के ताज़े दूध की कमी के कारण बताये जाते है और बहुत-से सुझावों में से एक सुझाव यह भी है कि दो चम्मच कच्ची शलजम का रस बच्चे को स्वस्थ करने में उपयोगी हो सकता है। संतरे का रस अपने विटामिन 'सी' के कारण कृत्रिम खाद्य पदार्थ अथवा आंशिक निर्जीवीकृत दूध का एक उपयोगी साथी माना जाता है। परन्तु हमारी सबसे अधिक अभिरुचि इस सामान्य प्रस्तावना में है कि मनुष्य बुद्धि द्वारा विजय प्राप्त करता है। वह ज्ञात कर लेता है कि विशिष्ट रोग आहार में किस पदार्थ की अनिश्चित अपूर्णता अथवा उन विशेष तत्त्वों की कमी के कारण होता है जो खाद्य पदार्थो में सूक्ष्म मात्रा में मिलते हैं। वह इनको शुद्ध रूप में पृथक् नहीं कर पाया है; उनकी रासायनिक संरचना के सम्बन्ध में खोज कर रहा है; उसने उनका नाम रख दिया है, यद्यपि वह नहीं जानता कि वह कैसे कार्य करते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह रोग के निवारण में व स्वस्थ रहने के लिए उसका प्रयोग कर सकता है। उसको शीघ्रता से, परन्तु स्थिर-गति से आगे अग्रसर होना चाहिए।[१]

१. इस समय तक मनुष्य को बहुत-से विटामिनों की उपस्थिति तथा रोग-निरोधक गुणों के विषय में ज्ञान हो गया है—अनुवादक।

अध्याय ६

तंत्रिका-तंत्र

पौधे तंत्रिका-तंत्र (नर्वस सिस्टम) के विना ही अपना कार्य सुचारु रूप से चला लेते हैं, अतः हम तंत्रिका को जीवन के लिए आवश्यक नही मान सकते। परन्तु ध्यान से देखने पर हमें ज्ञात होगा कि एक वृक्ष भी वहुत संवेदनशील होता है और कभी-कभी निकट से निकलते हुए बादलों के प्रति उत्पन्न भावों को दिखा कर इसका परिचय देता है। सवसे साधारण एक-कोशीय जीव में, वास्तव में जिसके शरीर होता ही नहीं, यथार्थ में तंत्रिका-तंत्र नहीं होता, परन्तु वह भी उत्तेजना के प्रति वहुत संवेदनशील होता है। उसकी जागरूकता कितनी अधिक या कम है, यह कहना बहुत कठिन है, पर वह हर प्रकार की उत्तेजना का प्रतिवेदन करता है। मनुष्य के सिर के बरावर वड़े स्पंज में भी तंत्रिका-तंत्र नहीं होता, वास्तव में तंत्रिका कोशाणु ही नहीं होते, परन्तु पास आते हुए कृमि के अनधिकार प्रवेश के डर से वह अपना निश्वासन-छिद्र वन्द कर सकता है। शरीर-विज्ञान की भाषा में यह क्षोभ है और यद्यपि वहुत-से जीवित प्राणी बिना तंत्रिका-तंत्र अथवा तंत्रिका-कोशाणुओं के होते हैं, परन्तु वे बिना क्षोभ अथवा अधीरता के नहीं होते। जीवित प्राणी के लिए यह आवश्यक है कि वह वाहरी वातावरण में होते हुए परिवर्तनों का अनुभव करे, अन्यथा वह कारगर रूप से प्रतिक्रिया नहीं कर सकता। यों प्रभावी प्रतिवेदन करना ही जीवन का उपलक्षण है।

तंत्रिका-तंत्र के कार्य—(१) यह आवश्यक है कि प्राणी अपने चारों ओर के वातावरण के सम्पर्क में रहे और उसको सम्पर्क में रखना तंत्रिका-तंत्र का प्रथम उपयोग है। परन्तु यह कार्य जीवित तत्त्व की साधारण क्षोभ्यता के कारण विना तंत्रिका-तंत्र के भी सम्भव है। (२) तंत्रिका-तंत्र का दूसरा कार्य सम्पूर्ण शरीर को समाचार पहुँचाना है, जिससे कि शरीर प्रतिवेदन कर सके। एक गरम सतह को छूकर अनुभव करने में कोई लाभ न होगा जव तक कि हम तत्काल ही अपनी अँगुली अलग न हटा सकें। पक्षी के पैरों के हलके पदाघात का अनुभव केंचुवा कर लेता है। यह संवेदी तंत्रिका-कोशिकाओं के कारण संभव होता है। ये प्रेरक-तंत्रिका-कोशिकाओं को संदेश ले जाती है जिनके आदेश से पेशियाँ आकुंचित हो जाती हैं। यह भी **सम्भव है**

कि प्रेरक-तंत्रिका-कोशिकाओं के पास बाहरी दुनिया से सन्देश न आकर शरीर के अन्दर से आवें। जब कभी भोजन आदि का टुकड़ा हमारी नलिकाओं में अनुचित मार्ग पर चला जाता है तब हम खाँसते है जिसका अर्थ है पेशियों का प्रबल संकुचन। इसी भाँति हमारा मस्तिष्क बिना हमारी जानकारी के उस समय अधिक ताप उत्पन्न करने का आदेश देता है जबकि उसमें से बहते हुए रुधिर का ताप आवश्यकता से कुछ कम होता है। (३) तंत्रिका-तंत्र का तीसरा उपयोग शरीर को एक में सम्बद्ध या अनुकलित रखना है, जिससे वह सुचारु रूप से एक इकाई की भाँति कार्य कर सके। इसमें संदेशों का संयुक्त किया जाना तथा आदेशों का समन्वय है, इसमें प्रभावों का संग्रह व अनुभवों का पञ्जीकरण है। यह कार्य व्यवस्थापक, संयोजक अथवा मध्यस्थ तंत्रिका कोशिकाओं का है। इनमें से कुछ व्यवस्थापक कोशिकाओं में जीवन के अन्तर्जगत्, स्मृति, विचार एवं संवेदनों का वास होता है। दूसरे शब्दों में उनकी आधि व मनोविक्षिप्ति पारस्परिक सम्बद्ध हैं।

तंत्रिका-तंत्र की आधार-योजना—मक्खी अथवा कुत्ते के समान पूर्णरूपेण सज्जित प्राणी के तंत्रिका-तंत्र में तीन प्रकार की तंत्रिका-कोशिकाएँ या न्यूरॉन (newron) होती हैं। प्रथम प्रकार की वे हैं जो बाह्य संसार अथवा शरीर के दूसरे भागों में से समाचार ग्रहण करनेवाली संवेदी तंत्रिका-कोशिकाएँ अथवा संग्राहक होती हैं। उनको हम स्काउट कोशिकाएँ भी कह सकते है। दूसरे प्रकार की तंत्रिका-कोशिकाएँ पेशियों को संकुचित अथवा शिथिल होने का, ग्रंथिमय अंगों को उदासर्जन करने एवं रुधिर वाहिनियों को संकुचित अथवा विस्तृत होने का आदेश देती हैं। ये प्रेरक अथवा अपवाही तंत्रिका-कोशिकाएँ हैं। ये अपने महत्त्व के आधार पर काल्पनिक रूप से मेजर कोशिकाएँ, केप्टन कोशिकाएँ आदि के नाम से विभिन्न श्रेणियों में रखी जा सकती हैं। उनको कार्यकारी अधिकारी कोशिकाएँ कहकर हम उनका कार्य स्पष्ट कर सकते हैं। तृतीय प्रकार की कोशिकाएँ, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, संग्राहक एवं प्रेरक कोशिकाओं के मध्य की स्थिति की होती है, जो एक ओर निरीक्षक एवं दूसरी ओर कार्यकारी--अधिकारी कोशिकाओं से सम्बन्धित होती हैं। ये मुख्य केन्द्रीय कोशिकाएँ हैं जिनको व्यवस्थापक अथवा मध्यस्थ तंत्रिका-कोशिकाएँ कहा जाता है। तंत्रिका-तंत्र जितनी उच्च श्रेणी का होगा उसमें उतनी ही अधिक व्यवस्थापक कोशिकाएँ होंगी। इस तुलना को यदि हम कह सकते हैं कि वास्तविक कार्य करनेवाली याने साधारण सैनिक कहलानेवाली कोशिकाएँ, जो वास्तव में जीवन-संग्राम में भाग लेती हैं, वे पेशी-कोशिकाएँ होती हैं जिनको कभी-कभी कारक (effectors, संवेदन ग्राही) भी कहा जाता है।

खादर का सनड्यू (Sundew) कीटों के पैरों के स्पर्श का प्रतिवेदन अपने संस्पर्शक को गतिशील करके करता है तथा कैरोलीना (Carolina) के दलदल का वीनस-फ्लाई ट्रेप (Venus Fly-Trap) नामक पौधा कीड़े आने पर अपने पत्र फलक को बन्द कर लेता है। इनमें या अन्य पौधों में कोई तंत्रिका-तंत्र नहीं होता, फिर भी उनमें प्रभावकारी हलचल होती रहती है। इसका अर्थ यह है कि हमें यह नहीं समझना चाहिए कि सबल क्रियाशीलता के लिए तंत्रिका-तंत्र का होना आवश्यक है। हम केवल यही कह सकते हैं कि यह उस लक्ष्य में बहुत सहायक होती है विशेषकर जहाँ गति का प्रश्न होता है। नेप्चून कप (Neptune cup) कहलानेवाले मधुमक्खियों के छत्ते के बराबर बड़े स्पंज में भी तंत्रिका-तंत्र नहीं होता, परन्तु वह स्थावर होता है एवं उसके बराबर का कोई भी गतिशील प्राणी ऐसा नहीं है जिसमें तंत्रिका-तंत्र न हो। अनुभूति एवं बुद्धि या प्रज्ञा के आन्तरिक जीवन का विकास होने से भी बहुत पूर्व तंत्रिका-तंत्र गति का नियंत्रण करने में कार्यरत रहता था। मनोविकार के पूर्व गति ही प्रधान थी और यह कहना निरापद है कि जबतक तंत्रिका-तंत्र का कुछ भी केन्द्रीकरण गुच्छिका में नहीं हुआ हो, तब तक मानसिक जीवन नगण्य ही रहता है।

प्रोफेसर जी० एच० पार्कर (G. H. Parker) ने केन्द्रीयकरण के लाभ का एक साधारण उदाहरण समुद्री-एनीमोन (sea-anemone) को लेकर दिया है। यदि समुद्री-एनीमोन के मुख के एक ओर के एक संस्पर्शक को मांस का छोटा-सा टुकड़ा दिया जावे तो वह उसको पकड़कर ग्रास-नली में पहुँचा देता है। यदि बाद में संस्पर्शक को गाय के मांस के रस में डूबा हुआ सोखते का टुकड़ा दिखाया जाय तो वह उसको भी ग्रास-नली में पहुँचा देता है जो वास्तव में उसके लिए लाभदायक नहीं है। यदि यह फरफार कुछ देर तक उन्ही संस्पर्शकों के द्वारा किया जाता रहे तो समुद्री-एनीमोन वास्तविक एवं कृत्रिभ उक्त दोनों ही प्रकार का भोजन ग्रहण करता रहता है। परन्तु आठ-दस परीक्षणों के पश्चात् वह, विना मस्तिष्क का प्राणी होते हुए भी, केवल वास्तविक भोजन को ही ग्रहण करना सीख लेता है और भोजन-लगा सोखता समुद्र में फेंक देता है। यह बात बहुत मनोरंजक है कि यदि यही परीक्षण समुद्री-एनीमोन के मुख की दूसरी ओर के संस्पर्शकों के साथ किया जावे तो वे वास्तविक तथा कृत्रिम भोजन दोनों को समान रूप से विना किसी विचार के ग्रहण कर लेते हैं। उनको दूसरे संस्पर्शकों के अनुभव से कोई लाभ नहीं पहुँचता। ऐसा सी-एनीमोन में मस्तिष्क अथवा गुच्छिका के न होने के कारण होता है, क्योंकि उसमें तंत्रिका-कोशिकाओं के विकीर्ण जाल से अधिक कुछ नहीं होता।

उच्च श्रेणी के जीव का तंत्रिका-तंत्र—तंत्रिका-तंत्र (स्नायु-संस्थान) में निम्न-लिखित भाग होते है—(अ) मस्तिष्क व उसकी कपालीय तंत्रिका, (ब) रीढ़रज्जु व उसकी रीढ़ तंत्रिका, (स) अनुकंपी तंत्र। चिड़िया अथवा स्तनधारी प्राणी में मस्तिष्क का अधिक भाग प्रमस्तिष्क गोलार्धों (cerebral hemispheres) के रूप में रहता है। कुत्ते अथवा बन्दर के समान बुद्धिमान् स्तनधारियों एवं उससे भी अधिक मनुष्य में वे मस्तिष्क के अन्य भागों को भी ढक लेते है और उनकी सतह अधिक झुर्रीदार अथवा व्यावृत हो जाती है। यदि इस बाह्य भाग अथवा वल्क को, जो बहुत छिछला होता है, बढ़ाकर उसकी ऊँची-नीची सतह को समतल कर दिया जावे तो मनुष्य में यह लगभग डेढ़ वर्ग फुट स्थान घेर लेगा। मस्तिष्क के अन्य अंगों तथा उसको आवृत करनेवाले कपाल की तुलना में यह अनुपात से अधिक बढ़ गया है, इसी कारण यह व्यावृत हो जाता है। पृथ्वी पर इस समय लगभग १,७००,०००,००० मानव रहते है; परन्तु हमारे प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था (cerebral cortex) में इससे पाँच गुने तंत्रिका-कोशाणु हैं, यद्यपि उसका भार आधा औंस ही होता है। कोशिकाओं की संख्या अनुमनतः ९,२००,०००,००० के लगभग है और उनके पारस्परिक सम्बन्धों का तो अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

प्रमस्तिष्क गोलार्धो में क्या होता है ? (१) यह बाहरी संसार से दृष्टि, श्रवण, गन्ध एवं स्वाद द्वारा समाचार प्राप्त करने तथा शरीर के अन्य भागों से संदेश ग्रहण करने का स्थान है; (२) यह मुख्यालय है जहाँ से पैर, धड़, बाहु, मुख (वाक् पेशी सहित) आदि की पेशियों को बहुत-से आदेश मिलते रहते हैं; परन्तु (३) विशेषकर यह साहचर्य-प्रक्रिया का स्थान है, जहाँ तात्कालिक उत्तेजना के प्रभाव, पूर्व उत्तेजना के प्रभावों से संयुक्त कर दिये जाते हैं, जिससे कि बाहर भेजे जानेवाले आदेशों का स्वरूप उनके संयोजन द्वारा प्रभावित रहता है। प्रमस्तिष्क गोलार्ध स्मृति, निष्कर्ष, अवधान, नियंत्रण एवं अन्य उच्च आन्तरिक शक्तियों के केन्द्र स्थान होते हैं।

प्रमस्तिष्क गोलार्ध पीछे की ओर दृष्टि-चेतक, दृष्टि-पिण्ड, पौंस (Pons), एवं मेरुशीर्ष से बने "मस्तिष्क वृन्त" तक फैले रहते हैं। पौन्स के ऊपर अनुमस्तिष्क रहता है एवं अधिकतर मस्तिष्क तंत्रिकाओं को जन्म देनेवाला मेरुशीर्ष कपाल के बाहर जाकर रीढ़-रज्जु तक पहुँचता है। यह रीढ़ की हड्डियों की नाल में से नीचे की ओर अग्रसर होता है और अनेक स्थानों पर द्विमूलीय मेरु-तंत्रिकाओं को जन्म देता जाता है जो अपने संवेदी तन्तुओं द्वारा संदेश ग्रहण करती हैं और प्रेरक तन्तुओं द्वारा आदेश भेजती है। स्केट (skate) मछली के समान एक निम्न श्रेणी के

रीढ़दार जीव में मस्तिक के सब भाग एक ही सतह पर होते हैं, केवल मेरु शीर्ष का अधिकतर भाग अनुमस्तिष्क द्वारा ढका पाया जाता है। प्रत्येक देखनेवाला आगे से पीछे की ओर क्रम से प्रमस्तिष्क गोलार्ध, दृष्टि चेतक, दृष्टि पिंड, अनुमस्तिष्क एवं मेरु-शीर्ष देखता है। ये प्रत्येक रीढ़दार प्राणी के मस्तिष्क के पाँच मुख्य भाग हैं।

मस्तिष्क वृन्त एवं अनुमस्तिक के क्या उपयोग हैं? मस्तिष्क वृन्त की तुलना उन टेलीग्राफिक तारों से की जा सकती है जिन्हें हम किसी बड़े नगर के निकट के राज मार्ग के किनारे कभी-कभी देखते हैं। इनमें से कुछ तंत्रिका-तन्तु प्रमस्तिष्क गोलार्धो को संदेश ले जाते हैं एवं कुछ अन्य शरीर के लिए आदेश। परन्तु मस्तिष्क-वृन्त में बहुत-से ऐसे भी तंत्रिका-कोशाणु होते हैं जो बिना प्रमस्तिष्क गोलार्धों को कष्ट दिये स्वयं ही प्रत्युत्तर देने में समर्थ होते हैं। हमारे शरीर में इनका कार्य श्वसन गति, नाड़ी, धमनियों की शाखाओं के आकार, भोजन-नलिका की क्रियात्मकता, सिर एवं आँखों की गति पर नियंत्रण रखना है। संक्षेप में, मस्तिष्क वृन्त प्रतिक्षेपी क्रियाओं एवं उनके समत्व के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है।

अनुमस्तिष्क कान एवं पेशियों से सन्देश ग्रहण करता है एवं ऐसे आदेश भेजता है जो विश्राम के समय पेशी-चेष्टाओं को स्थिर रखते हैं एवं साथ ही पेशी-गतियों को समन्वयित करते हैं जिससे वे समरस तथा संतुलित रहें। अनुमस्तिष्क के कारण ही हम अपना साम्य रखने में सफल होते हैं। हमारे शरीर में यद्यपि अनुमस्तिष्क प्रमस्तिष्क गोलार्धों के कुल नवे भाग के बरावर होता है, परन्तु हम समझ सकते हैं कि एक ट्राउट मछली में, जिसमें विचार-शक्ति का प्रारम्भ ही है, अनुमस्तिष्क (cerebellum) क्यों प्रमस्तिष्क गोलार्धो से बड़ा होता है।

रीढ़-रज्जु मस्तिष्क के केन्द्रों से शरीर के सक्रिय ऊतकों तक जानेवाले आदेश एवं इन ऊनकों से आनेवाले संदेशों के लिए प्रधान मार्ग है। रीढ़-रज्जु से आदेश अधर, अग्र प्रेरक अथवा अपवाही रीढ़ तंत्रिकाओं (मनुष्य में ३१ युग्मक होते हैं) द्वारा वाहर जाते हैं। संदेश पृष्ठ, पश्च, संवेदक अथवा अपवाही रीढ़ तंत्रिकाओं से अन्तर प्रवेश करते हैं। एक ही आवरण के अन्दर प्रत्येक रीढ़-तंत्रिका में तन्तुओं की दो श्रेणियाँ होती हैं, परन्तु हर एक में तंत्रिका-आवेग भिन्न होता है तथा वे रीढ़-रज्जु में प्रवेश करते समय ही पृथक् हो जाते हैं। जब सर चार्ल्स बेल (Charles Bell) ने संवेदक एवं प्रेरक तंत्रिकाओं अथवा तंत्रिका-तन्तु की भिन्नता को स्पष्ट किया, वह तंत्रिका-तंत्र को समझने में एक महत्त्वपूर्ण चरण था।

अपकेन्द्र एवं अभिकेन्द्र तंत्रिका आवेग के लिए प्रधान मार्ग होने के अतिरिक्त रीढ़-

रज्जु में प्रतिवर्ती क्रिया के भी केन्द्र होते हैं। आन्तरिक अंगों अथवा वाह्य विशिष्ट उत्तेजनाओं का प्रत्युत्तर मेरु (रीढ़) के केन्द्र विना मस्तिष्क की सहायता के ही दे सकते हैं, परन्तु यह एक बहुत आवश्यक तथ्य है कि मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा मेरु प्रतिवर्त मस्तिष्क के अधिक आधीन रहते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपनी रीढ़-रज्जु को ऐसे आदेश देने का भी निषेध कर सकता है जिन्हें हम प्राकृतिक कह सकते हैं और इसी पर मनुष्य-जीवन की बहुत-सी "मर्यादाएँ" निर्भर रहती हैं।

जब हम एक घुटने को दूसरे के ऊपर रखकर बैठे हों एवं उस समय घुटने के जोड़ के ठीक नीचे ही यदि एक तीव्र आघात हो तो हम अनिच्छित रूप से अपनी नीचे की टाँग को अकस्मात् झटका देते हैं। इस प्रयोग में यदि हम अपनी दोनों मुट्ठियाँ कसकर बाँध लें तो झटका अधिक प्रबल होगा। यह रीढ़ प्रतिवर्ती का एक सुपरिचित उदाहरण है, यद्यपि यह सबसे अच्छा उदाहरण नहीं है जो दिया जा सकता है। जानुक्षेप होने में एक सेंकड का बहुत ही छोटा अंश लगता है पलक झपकाने से भी कम, तब भी इतने में ही संदेश को रीढ़-रज्जु के कटि-प्रदेश तक पहुँचने एवं वहाँ से पेशियों को आदेश आने तक का समय मिल जाता है।

अंत में एक अनुकम्पी तंत्रिका-तंत्र (स्नायु-संस्थान) होता है। यह गुच्छिकाओं या तंत्रिका-केन्द्रों की एक जंजीर के रूप में रीढ़-रज्जु के बाहर रहता है, परन्तु इससे तथा मस्तिष्क से उसका सम्बन्ध होता है। यह हमारी इच्छा-शक्ति के नियंत्रण से परे है, परन्तु हमारी मानसिक संवेदनाओं से तीव्रता के साथ प्रभावित होता है। इन केन्द्रों से रुधिर वाहिनियों एवं आंतरांग तथा ऊपर की पलक की पेशियों के समान कुछ अन्य पेशियों को शाखाएँ जाती हैं। डर से हमारे मुख का पीला पड़ना अथवा हर्ष से लाल होना अनुकम्पी तंत्रिका-तंत्र से रुधिर वाहिनियों में प्राप्त सन्देशों की प्रतिक्रिया से ही होता है।

प्रतिवर्ती क्रियाएँ—बहुत-से जीवों के लिए, जो इस नाम के योग्य हैं, अस्तित्व बनाये रखने की शर्त यह है उनमें प्रतिवर्ती क्रियाओं की क्षमता हो। उन्हें बाहरी संसार अथवा शरीर के संजटिल भागों से प्राप्त आवर्त्तक उत्तेजनाओं का तात्कालिक एवं प्रभावयुक्त प्रत्युत्तर देने में समर्थ होना चाहिए। प्रतिवर्ती क्रिया की शक्ति का उपलक्षण है कि संवेदक तंत्रिका-कोशिका अथवा ग्राहक से आने वाले संदेश द्वारा एक पेशी अथवा ग्रन्थि के क्रियात्मक अथवा उत्तेजनहीन होने पर नियंत्रण रखनेवाली प्रेरक तंत्रिका-कोशिका में लगभग तात्कालिक प्रेरणा का आह्वान हो। अधिकतर शृंखला में कड़ियाँ इस प्रकार हैं—(१) सचेतन कोशिकाएं, (२) संवेदक तन्तु

तथा संवेदक कोशिकाएँ जिससे वे सम्बन्धित हैं, (३) व्यवस्थापक अथवा संयोजक तंत्रिका-कोशिकाएँ, (४) प्रेरक तंत्रिका-कोशिकाएँ तथा उनके अपवाही तन्तु और (५) पेशी-कोशिका अथवा ग्रन्थि-कोशिका । पलक झपकाना, खांसना, छींकना, गरम अथवा तीक्ष्ण सतह से उँगली को झटका देकर हटा लेना, मुँह में पानी आना प्रतिवर्ती क्रियाओं के सुपरिचित उदाहरण हैं। ये हमारी इच्छा के अधीन नहीं हैं, यद्यपि नियंत्रण द्वारा हम कभी-कभी उनका निरोध कर सकते हैं। परिवर्धन के समय इनकी व्यवस्था होती है। दूसरे शब्दों में ये वंशागति के भाग है। परन्तु बहुत-से उच्च श्रेणी के प्राणी नवीन दक्षताओं एवं अभ्यस्तताओं की स्थापना करने की शक्ति भी रखते हैं जो आनुवंशिक प्रतिवर्ती क्रियाओं की पूरक हो जाती हैं। यह स्पष्ट है कि ये सहकारी प्रतिवर्ती क्रियाएँ व्यावहारिक शिक्षा में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं।

अध्याय ७

ज्ञानेन्द्रियाँ कितने प्रकार की होती हैं ?

पंचेन्द्रियों की आलोचना करना, पवित्र वस्तु को दूषित करने के समान प्रतीत होता है, परन्तु अपने मन को हमें कटोर बनाना होगा, क्योंकि गन्ध, स्वाद, स्पर्श, श्रवण एवं दृष्टि के अतिरिक्त और भी इन्द्रियाँ होती हैं। हारवर्ड (Harvard) के प्रोफेसर जी० एच० पार्कर (G. H. Parker) द्वारा गन्ध, स्वाद एवं सहयोगी इन्द्रियाँ ("Smell, Taste and Allied senses") नामक हाल में ही प्रकाशित रचना द्वारा हमारी जिज्ञासा जाग्रत की गयी है। उन्होंने वताया है कि हमें ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का द्वार, अथवा चेतना की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देनेवाला विन्यास, मानने की रूढ़वादी धारणा को विस्तृत करना चाहिए। जव हम अपने को छोड़कर समुद्री एनीमोन (sea-anemone) के समान साधारण जीवों की ओर ध्यान देते हैं तो हमें अपने विचारों को विस्तृत बनाने की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत होती है। इन प्राणियों में तंत्रिका-कोशिकाओं का एक जाल होता है, परन्तु उसको केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र (स्नायु-प्रतिष्ठान)[1] होने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। इसी कारण यथार्थ में समुद्री एनीमोन में ज्ञान अथवा चेतना की उपस्थिति की बात हमें कहनी ही नहीं चाहिए, परन्तु फिर भी समुद्री एनीमोन में बहुत-सी संवेदक कोशिकाएँ हैं जो विभिन्न प्रकार के बाहरी उद्दीपनों का प्रतिपादन करती है। उनका उपयोग क्रियात्मकता उत्पन्न करने मे तथा पेशियों को संकुचित होने का आदेश देने में होता है। वे एक खटके (वन्दूक के घोड़े) के समान हैं जिसके द्वारा पेशियाँ गतिशील की जाती है और संवेदक विन्यासों का प्रारम्भिक उपयोग भी यही था। जिस क्रम से केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र का विकास होता गया, संवेदक विन्यास भी ज्ञान की अनिर्मित (कच्ची) सामग्री के लिए प्रवेश-द्वार बनते गये। इसीलिए संवेदक कोशिका अथवा ज्ञानेन्द्रियों के लिए 'ग्राहक'[2] शब्द साधारणतः सुविधाजनक माना गया, चाहे उनका उपयोग पेशियों को क्रियात्मक करने में हो अथवा बाहरी केन्द्रों से सूचना प्राप्त करने में।

1. Central nervous system 2. Receptor

तब प्रश्न यह उठता है कि ग्राहक कितने प्रकार के होते हैं ? और यह विचार करने योग्य तथ्य है कि संवेदक तंत्रिका-कोशिकाओं की प्रवृत्ति केवल एक ही प्रकार की उत्तेजना का प्रतिवादन करने की, जवाब देने की, होती है। विकास के क्रम में, श्रम के विभाजन द्वारा, विशेपज्ञ निरीक्षकों का आविर्भाव हो गया जिनमें प्रत्येक, वातावरण में होनेवाले परिवर्तनों में से केवल, एक विशिप्ट प्रकार के ही परिवर्तन के प्रति सजग रहता है, चाहे वह शरीर में हो अथवा बाहरी संसार में।

गन्ध-संवेद—मनुष्य में गन्ध-संवेद के महत्त्व को कम आँकने की प्रवृत्ति होती है। अंशतः तो इसका कारण यह है कि मानव जीवन में दृष्टि एवं श्रवण को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है और अंशतः यह कि अभ्यास एवं वातावरण की कृत्रिमता मनुष्य को गन्ध-संवेद द्वारा प्राप्त होनेवाले उद्दीपनों के प्रति असावधान बना देती हैं। यदि मनुष्य को लोमड़ी के समान ही अपने भोजन के लिए आखेट करना पड़ता तो वह घ्राणेन्द्रिय को अधिक ऊँचा दर्जा देता। यदि उसको अपने भोजन की पथ्यता पर कुछ कम विश्वास होता तथा श्वाँस द्वारा ली जानेवाली वायु के सम्बन्ध में मन में अधिक सन्दिग्धता होती तो वह अपनी नासिका के सम्बन्ध में निश्चित रूप से अधिक विचार करता। अधिकतर ऐसा देखा जाता है कि आधुनिक मनुष्य में गन्ध-संवेद की शक्ति की अधिक न्यूनता पायी जाती है और वास्तव में इसे ही हम उसमें दुर्गंध के प्रति पायी जानेवाली सहनशीलता का कारण कह सकते हैं; लेकिन यह न्यूनता जातिगत ह्रास के कारण न होकर सम्भवतः तम्बाकू-जैसे तीव्र गन्धयुक्त पदार्थों द्वारा उत्पन्न व्यक्तिगत अति उत्तेजना के कारण होती है। इसमें कोई संशय नही कि सुँघनी के समान तीव्र सुगंधों द्वारा उत्पादित सतत नास्य-उत्तेजना फूलों की मृदु सुगन्ध के समान दूसरी गंधों के प्रति एक आपेक्षिक जड़ता या अबोधता उत्पन्न कर देती है।

प्रतिवर्ती क्रिया के प्रोत्साहक—एक और कारण, जिससे मनुष्य गन्ध-संवेद को उचित महत्त्व नहीं देता, साधारणतः स्वीकृत इस धारणा में निहित है कि इन्द्रियाँ ज्ञान की प्रवेश-द्वार हैं। ज्ञानेन्द्रियों के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में यदि हमारा यह विचार है तो मनुष्य की गन्ध-संवेद को दृप्टि एवं श्रवण की इन्द्रियों के निकट की श्रेणी में रखना असम्भव है। परन्तु इन्द्रियों का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व और भी है—प्रतिवर्ती क्रियाओं के लिए खटके के समान कार्य करना। भेड़िये-जैसे जंगली जानवर के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ बाहरी संसार से संकेत के वाहक के रूप में अपरिहार्य हैं; उनकी बोध देने एवं मानसिक जीवन के लिए आवश्यक सामग्री जुटाने की योग्यता एक सहायक एवं पश्चाद्गामी उपयोग है। परन्तु मनुष्य चूँकि विशेषकर दृप्टि-परक एवं कर्ण-परक होता है और प्रायः

नासिका परक नहीं के बराबर होता है, अतः उसकी प्रवृत्ति नासिका के प्रतिकूल ही रहती है, क्योंकि यह उसको आँख एवं कान के समान मानसिक भोजन प्रदान नहीं कर सकती। ऊपर दिये गये प्रोफेसर जी० एच० पार्कर के स्पष्ट एवं विस्तृत लेख का उपयोग कर हम यहाँ उस इन्द्रिय के बारे में कुछ थोड़ा-सा कहना चाहते हैं जिसको यदा-कदा ही उचित महत्त्व प्राप्त होता है।

नासिका के अन्दर—हमारे दोनों नासा-विवर बाहर की ओर खुलनेवाले अग्र नासारन्ध्र से तालु पर खुलनेवाले पश्च नासारन्ध्र की ओर फैले हुए हैं। इन विवरों या गुहाओं में तीन-चार तहें आगे की ओर लटकी रहती हैं और भीतर की पूरी सतह एक कोमल झिल्ली से आस्तरित रहती है जो अंशतः ग्रन्थिमय होती है, अंशतः जीवित लोम धारण किये होती है। ये तहें एक झिल्ली से आवृत रहती हैं जो रुधिर-वाहकों से परिपूर्ण होती हैं एवं फूल जाने की शक्ति रखती हैं जिससे कि श्वसन मार्ग को बन्द कर सकें। इन तहों पर से निकलते समय वायु उष्ण तथा आर्द्र हो जाती है एवं नासा-गुहा में उत्पन्न होनेवाले स्राव बाहर से लाये जानेवाले हानिकारक अणुजीवों के प्रति विरोधी भाव रखते हैं।

सबसे ऊपरी तह एवं दोनों नासा-गुहाओं के बीच के व्यवधान पर एक चौकोर टुकड़ा होता है जिसकी एक भुजा लगभग एक इंच के दसवें भाग के बराबर होती है और यही भाग गंध के प्रति संग्राही होता है। इसका रंग पीला-सा होता है एवं यह अधिकतर पतले लम्बे घ्राण कोशाणुओं से बना होता है जिनमें से प्रत्येक के स्वतंत्र छोर या नोक पर छः अथवा आठ बहुत ही कोमल जीव-द्रव्य रूपी अंशु अथवा घ्राण-रोम होते हैं। ये कोशाणु केवल गंध के ही ग्राहक हैं, परन्तु पाँचवी अथवा त्रिधारा तंत्रिका की सूक्ष्म शाखाओं के स्वतंत्र तंत्रिका-अन्तांग भी गंधग्राहक होते हैं। कुछ स्तनधारियों में बहुत-से गंधग्राहक भाग होते हैं एवं दूसरों में कम। दक्षिण अफ्रीका के सूअर आर्डवाक (aardvark) में, जो रात्रि में दीमक का आखेट करता है, दस गन्ध-ग्राहक भाग होते हैं जबकि दृष्टि की सहायता से आखेट करनेवाले सील (seal) व बन्दर में कम होते है। पोरपोइज़ (porpoise) के समान दंतीले सैटेशियन (cetaceans) में घ्राण सिध्म भाग व्यावहारिक रूप से लगभग लुप्त हो गये हैं। यह बात मनोरंजक है कि शार्क (shark) जैसी वास्तविक मछलियों में नासारन्ध्र पूर्णतः गन्ध-संवेद के कार्य में आते हैं जबकि डालफिन (dolphins) और पोरपोइज़ (porpoise) जैसे दंतयुक्त ह्वेल (Whale) में वे पूर्णतः श्वसन-अंग हैं।

तम्बाकू का प्रभाव—हम चर्चा कर चुके हैं कि हमारी नासा-गुहाओं के गन्ध-

सिध्मों पर (१) उत्तेजनाओं को मस्तिष्क तक ले जानेवाली घ्राण या प्रथम तंत्रिका से सम्बन्धित घ्राण अन्तांग और (२) त्रिधारा (triqeminal) या पाँचवीं तंत्रिका से जुड़े हुए स्वतंत्र तंत्रिका अन्तांग[1] रहते है। ऐसा प्रतीत होता है कि भोजन की-सी मृदु सुगन्ध केवल घ्राण अन्तांगों को प्रभावित करती है जबकि ऐसीटिक ईथर (acetic ether) की-सी क्षोभक गन्ध त्रिधारा अग्रों पर प्रभाव डालती है। यह सम्भव है कि तम्बाकू के धुएँ से दोनों प्रकार के अन्तांग प्रभावित होते हैं, एक मधुर गन्ध द्वारा और दूसरे क्षोभक गन्ध द्वारा। तम्बाकू पीने वाले दूसरी प्रकार की गन्ध के बारे में कुछ अधिक कहते ही नहीं हैं।

गन्ध के उपलक्षण—इसमें प्रायः ऐकमत्य है कि गन्ध स्तर केवल उस पर आकर ठहर जानेवाले भौतिक कणों (वाष्पित अथवा गैसीय) द्वारा ही उत्तेजित होते हैं। हमने एक मनुष्य को घूरे पर के दुर्गन्धयुक्त कुकरमुत्तों का बहुत दूर से अनुसरण कर उन्हें पा लेते देखा है, ठीक उसी तरह जैसे कुत्ता चरागाह में अपने मालिक के दस्तानों का पता लगा लेता है। परन्तु वास्तव में दूर से कोई गन्ध नहीं आती, वरन् वायु द्वारा एक विशेष दिशा से लाये गये कण नासारन्ध्र पहुँचते हैं और यदि वे घ्राण-सिध्म[2] पर ठहर जाते हैं तो घ्राण-उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। जो वायु हम चुपचाप श्वास में खींचते हैं वह नास्या कक्ष से बिना गंध-कोशिकाओं को उत्तेजित किये मुख के पश्च भाग की ओर चली जा सकती है। यही "छींकने" की जीव शास्त्रीय व्याख्या है जिसमें सुगन्धित कण घ्राण-सिध्म के सम्पर्क में आते हैं।

सुगन्ध की स्पष्ट चेतना उत्पन्न करने में समर्थ पदार्थ की आवश्यक मात्रा का ज्ञान करने के लिए कुछ बहुत ही विलक्षण विधियाँ हैं और सबसे अधिक रोचक परिणाम यह ज्ञात हुआ है कि बहुधा पदार्थ की बहुत कम एवं अधिकतर अति सूक्ष्म मात्रा ही स्पष्ट चेतना के लिए पर्याप्त है। यह सब जानते हैं कि प्राकृतिक कस्तूरी की कितनी सूक्ष्म मात्रा कितने अधिक समय तक एक कमरे को विशिष्ट सुगंधि दिये रह सकती है एवं कृत्रिम कस्तूरी तो, जो सम्भवतः सुगंधित वस्तुओं मे सबसे अधिक गन्धयुक्त वस्तु है, प्राकृतिक कस्तूरी से लगभग हज़ार गुना उग्र होती है। सामान्य विचार यह है कि उत्तेजना देने के लिए कणों के किसी प्रकार के विलयन की आवश्यकता होती है एवं वाष्पित तथा वापित (गैसीय) कण घ्राण-कोशिका एवं उनके "बालों" को आवृत रखने वाले जलीय श्लेष्मा के साथ मिलकर विलयन बना लेते हैं। शार्क, डौगफिश

1. Free nerve endings 2. Olfactory patch

अमरीकी कैट फ़िश तथा किलिफ़िश (killifish) जैसी मछलियों में, जिनके सम्बन्ध में यह सिद्ध किया जा चुका है कि उनमें गन्ध-संवेदन-शक्ति होती हैं, उत्तेजक पदार्थ उनके नासारन्ध्रों में मुक्त भाव से भीतर-बाहर आते-जाते रहनेवाले जल के साथ, ले जाया जाता है।

प्रोफ़ेसर पार्कर ने बताया है कि घ्राण ह्रास (शून्यता) तीव्र सुगन्धों से बहुत शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती है। यदि हम कुछ मिनट तक नीबू या संतरे का तेल सूँघते रहें तो फिर हमें उसकी सुगन्धि मिलनी बन्द हो जाती है। परन्तु जंगली पोदीना (wild thyme) अथवा मीठी वर्नल घास (vernal grass) से आने वाली मृदु सुगंधियों से हममें गन्धनिःशेपिता कभी नहीं उत्पन्न होती। और जिस प्रकार कई मनुष्यों में किसी विशेष रंग के प्रति अन्धे होने का जन्मजात रोग होना है, उसी प्रकार कुछ लोग पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से अघ्राणनक (अघ्राणशील) होते हैं। जुकाम के समय सूँघने की शक्ति का ह्रास स्राव की अधिकता के कारण घ्राण-कोशिकाओं का वायु-रोध हो जाने से होता है।

घ्राण-समपार्श्व—गन्धों के वर्गीकरण के लिए किये गये अनेक प्रयत्नों में सर्वोत्तम हेन्निग (Henning) का "घ्राण समपार्श्व" है। इसमें तीन ऊपर के कोने तीन मूल सुगंधियों द्वारा व्याप्त कर लिये जाते हैं—पुष्पमय (जैसे सूर्यकमल—हीलियोट्रोप), फलवत् (जैसे सन्तरा) और दुर्गधमन जैसे सलफ्यूरेटेड हाइड्रोजन (sulphuretted hydrogen); तीन नीचे के कोने तीन अन्य प्रकार की मूल गन्धों द्वारा व्याप्त होते हैं—मसालों के समान (जैसे लौंग), राल के समान (जैसे यूकेलिप्टस), और जली हुई सी (जैसे कोलतार)। मध्यस्थित रेखाओं एवं सतहों पर अन्य बहुत-सी बीच की गंधें रहती हैं तथा समपार्श्व के अन्दर "मिश्रित" कहलाने वाली गन्धें आवासित होती हैं। इस विलक्षण प्रबन्ध के पीछे मूल गन्धों का रासायनिक संरचना से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रारम्भिक प्रयत्न छिपा हुआ है।

चींटी व मधुमक्खी के समान बहुत से रीढ़-रहित प्राणियों में घ्राण-चेतना अपने मार्ग ढूँढने अथवा घर लौटने, अपने सजातीय एवं नर-मादा को पहिचानने तथा अपने शत्रुओं का पता लगाने में विशेष महत्त्व रखती है। उच्च श्रेणी के प्राणियों में भी ये उपयोग कुछ हद तक पाये जाते हैं, परन्तु प्रारम्भ से लेकर अन्ततक गन्ध-संवेद का सबसे अधिक महत्त्व भोजन के सम्बन्ध में है। प्राणी गन्ध से छिपे हुए तथा दूरस्थ भोजन का पता लगा लेता है, एवं गन्ध से ही प्राणी अस्वाद्य तथा अपथ्य भोजन का परिहार कर लेता है। इनसे भी विलक्षण उपयोग है भोजन की सुखकर सुगंध से पाचन-क्रिया को

प्रोत्साहन मिलना और भोजन के उदरस्थ होने के पूर्व ही पाचन की पूरी तैयारी हो जाना। इससे भी विलक्षण है, सुखकर सुगंधियों का रुचिकर चित्रों एवं स्मृतियों से साहचर्य या सम्बन्ध और कम-से-कम मनुष्य में सुखकर भावनाओं एवं विचारों से भी साहचर्य है। मनुष्य की इसमें कोई हानि नहीं होगी यदि वह 'अपनी नासिका का अनुसरण करो' वाली पुरानी सीख की ओर कुछ अधिक ध्यान दे।

स्वाद-संवेद—गन्ध-संवेद के समान ही स्वाद-संवेद के महत्त्व को कम मानने की प्रवृत्ति पायी जाती है। मनुष्य अपनी आँखों से तथा कानों से ही विशेष रूप से काम लेता है और अन्य चेतनाओं को उनकी अपेक्षा गौण समझता है, खासकर जब कि वह चेतनाओं को मस्तिष्क में पहुँचनेवाले ज्ञान का प्रवेश द्वार मानता है। परन्तु उपयोगी संकेत ग्रहण करने एवं प्रतिवर्ती क्रियाओं द्वारा लगभग स्वयमेव उत्पन्न होनेवाले प्रतिवेदन के बाहरी केन्द्र होने का दूसरा भी उपयोग ज्ञानेन्द्रियों का है। अपथ्य से दूर हटने अथवा उसे त्यागने के लिए मनुष्य को उद्यत कर स्वाद-संवेद उसके जीवन का रक्षक हो सकता है। इसके अतिरिक्त स्वाद-संवेद गन्ध-संवेद की भाँति पाचक रसों का स्राव करने तथा आहार नाल में भोजन का पाचन करने के लिए दूसरे आवश्यक कार्यो में भी महत्त्व का है।

स्वादिष्ठ भोजन देखकर हमारे मुँह में पानी आ जाना बिना किसी कारण नहीं होता तथा भोजन की रसवेदी तैयारी यदि विपुल लारमय स्राव को न भी उत्पन्न करे तब भी महत्त्व की हो सकती है।

स्वाद का स्थान—कुछ मछलियों में "स्वाद कलिकाएँ" शरीर के बगल के भाग पर होती है। और भी बहुत-से उदाहरण है जिनमे स्वादेन्द्रियों का स्थान मुख से कहीं पृथक् होता है। परन्तु यह सर्वविदित है कि मनुष्य में स्वाद का स्थान मुख में है। स्वाद-कलिकाएँ जिह्वा के केवल अग्र एवं पार्श्व पृष्ठ तल पर ही नही होती, वरन् तालु के पिछले भाग, घांटी-टापन[1] एवं ग्रसनी[2] की भित्ति पर भी होती हैं। प्रौढ़ वय की अपेक्षा प्रारम्भिक बाल्यकाल में ये दूर तक वितरित रहती हैं।

छोटे बच्चों में गालों का भीतरी तल भी रसवेदी या स्वादपरिचायक[3] होता है। यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि स्वाद-कलिकाओं की संख्या में आयु तथा व्यक्ति के परिवर्तन से बहुत भिन्नता हो जाती है तथा युवा पुरुष में जिह्वा के ऊपर एक अंकुरक में सामान्य रूप से लगभग दो सौ पचास स्वाद-कलिकाएँ होती हैं। स्वाद में सदा व्यक्तिगत

1. Epiglottis कण्ठच्छुद 2. Pharynx 3. Gustatory

विभिन्नता मिलती है जो "अपने-अपने स्वाद का प्रश्न है" की कहावत को सार्थक सिद्ध करती है।

स्वाद-कलिकाएँ—स्वाद-कलिका श्लेष्म झिल्ली में दवी हुई कोशिकाओं का तकुए के आकार का अथवा पलिघ[1] आकार का एक समूह है जो एक छिद्र द्वारा खुलता है। इस समूह में कुछ लम्बी स्वाद-कोशिकाएँ होती हैं जिनमें प्रत्येक में एक कोमल तन्तु अथवा बाल होता है। यह छिद्र में से विक्षेपित होता है अथवा नाल यदि मौजूद हो तो उसमें निकलता है। जैसे-जैसे पुरानी स्वाद-कोशिकाएँ श्रान्त होकर वियोजित होती हैं, नयी-नयी उत्पन्न होकर उनका स्थान ले लेती हैं। स्तनधारियों में मस्तिष्क की तीन तंत्रिकाओं से निकलनेवाले तन्तुओं द्वारा स्वाद-कलिकाओं में वहुत अधिक स्फूर्ति उत्पन्न होती रहती है। यह सम्भव प्रतीत होता है कि तंत्रिका से निकलने वाली एक रसवेदी शाखा उपकला[2] अथवा आवरण झिल्ली में किसी बिन्दु पर पहुँच कर हारमोन (hormonc) के समान कुछ उत्तेजक पदार्थ उत्सर्जित करती है जो निकट की कोशिकाओं को स्वाद-कलिका के निर्माण के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

स्वाद लेते समय क्या होता है—किसी वस्तु का स्वाद लेने के लिए उसको जलीय विलयन के रूप में स्वाद-कलिकाओं के सम्पर्क में लाना होगा। दूरस्थ पदार्थ के कणों का गन्ध द्वारा पता लगाया जा सकता है, परन्तु स्वाद के लिए वास्तविक सम्पर्क की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में स्वाद-कोशिकाएँ संस्पर्श रासायनिक ग्राहक हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि ठोस पदार्थ का पूर्ण स्वाद तब तक नहीं लिया जा सकता जब तक कि उसके एक अंश को चबाकर, लार में घोलकर इधर-उधर घुमाया न जाये, जिससे कि वह स्वाद-कोशिकाओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आ सके।

इन कोशिकाओं के उत्तेजित होते ही मस्तिष्क को संदेश जाता है और उससे प्रीतिकर एवं अप्रीतिकर संवेदना का अनुभव होता है। अप्रीतिकर होने में अपथ्य पदार्थ का स्वतः प्रेरित त्याग हो सकता है और यह वास्तव में कभी-कभी जीवन-सुरक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है, विशेषकर पूर्वकाल मे जब कि मनुष्य को पथ्य-अपथ्य का ज्ञान नही था। जब कोई व्यक्ति गलत औषधि निगल जाने से मर जाता है तब इसका अर्थ होता है कि उसको स्वाद की अनुभूति का समय नहीं मिला। स्वाद की उत्तेजना उत्पन्न होने, एवं उसके प्रतिवेदन में औसत समय ०.१६७ सेकंड अनुमानित किया गया है, परन्तु यह स्वाद लिये जानेवाले पदार्थ की प्रकृति पर भी निर्भर करता है।

1. Flask काँच-कलश 2. Epithelium

यह सुपरिचित अनुभव है कि कुछ विलयन जिह्वा को इस प्रकार प्रभावित करते हैं कि कुछ पदार्थों का स्वाद ही परिवर्तित हो जाता है। पोटेशियम क्लोरेट के विलयन से कुल्ले करने से जिह्वा की स्वादकलिकाएँ इतनी परिवर्तित हो जाती है कि आसुत जल भी मीठा लगता है। स्वाद के विशेषज्ञ इससे सहमत हैं कि कुछ फल जो खाने में अच्छे हैं, शराब के साथ खाने पर उसके स्वाद को बिगाड़ देते हैं, और सम्भवतः स्वाद की दृष्टि से तथा भूख बढ़ाने की दृष्टि से स्ट्राबेरी के साथ मलाई का एवं यकृत के साथ सुअर के मांस का संयोग उचित ही प्रतीत होता है।

स्वाद के विभिन्न प्रकार—गंधों के वर्गीकरण की अपेक्षा स्वाद के वर्गीकरण का आधार अधिक दृढ़ है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तीन या चार प्रकार के पूर्णतः भिन्न स्वाद होते हैं जिनके अलग-अलग संग्राहक हो सकते हैं। चार मूल स्वाद ये हैं—खट्टा, नमकीन, मीठा व कड़ुवा। खट्टा स्वाद, अम्ल अथवा उसी प्रकार के पदार्थों द्वारा उद्दीपित होता है जो जलीय विलयन में हाइड्रोजन आयन देते है। नमक द्वारा उत्पन्न नमकीन स्वाद क्लोरीन आयन (Chlorine ion) या उसी प्रकार के अन्य पदार्थ के कारण होता है। क्वीनीन तथा स्ट्रीकनीन कड़वे स्वाद का भली-भाँति प्रतिनिधित्व करते हैं। मीठा स्वाद कड़वे की भाँति शर्करा व अन्य कार्बोहाइड्रेट जैसे कार्बनिक पदार्थों से मुख्यतः सम्बन्धित है। परन्तु सबसे रोचक बात तो यह है कि चारों मूल स्वाद इतने भिन्न है कि कुछ विशेषज्ञ चार प्रकार के स्वाद-संवेद की बात करते हैं।

रासायनिक-संवेदन (रसायनेन्द्रिय)—हाल ही में किये गये अनुसंधानों नें फिज़ि-आलाजिस्टों (शरीर क्रिया-शास्त्रियों) को अनेक ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रदर्शित साधारण लक्षणों पर अधिक महत्त्व देने को बाध्य किया है। इनमें से नाक में घ्राण-सिध्म एवं मुख में स्वाद कलिकाएँ सबसे सुपरिचित हैं। डॉग फिश (dog fish) एवं फिशिंग फ्रॉग (Fishing frog) के समान बहुत-से प्राणियों की त्वचा में साधारण, परन्तु तीक्ष्ण रासायनिक चेतना होती है। भूमि पर रहने वाले रीढ़दार प्राणियों में यह अधिक प्रतिबन्धित होती है, परन्तु मनुष्य में भी यह सुपरिचित है। एमोनिया की भाप केवल नाक को ही क्षोभित नहीं करती, वरन् आँखों में भी पानी निकाल देती है।

यदि अमेरीकन कैट फिश (cat fish) के पार्श्व के निकट मांस का एक टुकड़ा पकड़ कर रखा जावे तो जन्तु तुरन्त ही पलट कर उसको झपट लेता है। यह सम्भवतः बगल की ओर स्थित स्वाद-कलिकाओं के कारण होता है और ग्राहकों का एक और समूह (कुलक) पार्श्व-रेखा पर स्थित होता है। यदि संवेदक-संरचना के ये दोनों कुलक बेकार कर दिये जावें तो मछली अपने पार्श्व में लटकाये गये टुकड़े के प्रति कोई

प्रतिवेदन नहीं करती, यद्यपि वह अम्ल और लवण के आदेशों का प्रतिवेदन करती है। मछली में रासायनिक चेतना होती है और, जैसा कि प्रोफेसर पार्कर (Parker) ने कहा है, मनुष्य में भी रासायनिक चेतना होती है जो गंध, स्वाद, स्पर्श एवं पीड़ा की चेतना से भिन्न होती है। "आँख, नाक एवं कभी-कभी मुँह को उत्तेजित करने वाली भाप से उत्पन्न हुई विचित्र चेतना केवल पीड़ा-सूचक होती है एवं उसका स्पर्श, गंध अथवा स्वाद से कोई दूरस्थ सम्बन्ध भी नहीं है। पीड़ा कोकेन के प्रयोग द्वारा सामान्य रासायनिक चेतना से आसानी से पृथक की जा सकती है और इसीलिए यह निष्कर्ष निकालना पूर्णतः न्यायसंगत है कि सामान्य रासायनिक चेतना वास्तविक चेतना है जिसका अपना स्वतंत्र ग्राहकों का समूह और अपना पृथक् संवेदना-गुण है।"

एक भरमाने वाली ज्ञानेन्द्रिय—बहुत-से स्तनधारियों और कुछ सरीसृपों के नासा-कक्ष में एक अनोखी युग्मित ज्ञानेन्द्रिय, जिसे जैकोबसन की इन्द्रिय कहते हैं, होती है। इसका सम्पर्क मुख विवर से होता है। इसमें घ्राण सिध्मों के समान ही संवेद-कोशिकाएं होती हैं और सम्भवतः यह सहायक घ्राणेन्द्रिय है। मनुष्य में यह इन्द्रिय अपकृष्ट अवस्था में होती है और युवावस्था में तो पूर्णतः लुप्त भी हो सकती है। यह जीव-विकास में लुप्त होती गयी इन्द्रियों के अवशिष्ट चिह्नों का एक उदाहरण है जो अब भी हमारे शरीर में है। यहाँ वर्णित घ्राण-सिध्म, स्वादकलिकाएं, जैकोबसन की इन्द्रिय (या सीरिका-नासा अंग[1]) तथा रसायनों के प्रति क्रियाशील रहनेवाले तंत्रिका-अन्तांग, ये सभी ज्ञानेन्द्रियाँ एक शृंखला बनाती हैं जिसके बहुत-से लक्षण हर एक में होते हैं।

जैसा कि प्रोफेसर पार्कर ने बताया है, ये विलयित रासायनिक पदार्थों के प्रति क्रियाशील होने वाले रसदीप्त ग्राहक हैं। गन्धयुक्त कणों के सम्बन्ध में भी यही लगता है कि उनको ग्रहणशील संवेदक कोशिकाओं तक ज़लीय माध्यम से ही पहुँचना होता है। चेतना उत्पन्न करने के लिए विलयित पदार्थ में रासायनिक क्रियाशीलता होनी चाहिए और उसको तंत्रिका अन्तांग के वास्तविक सम्पर्क में आना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह उद्दीपन स्पर्श एवं श्रवण में होनेवाली उत्तेजना से बहुत भिन्न है। इसका अर्थ यह है कि रसदीप्त ग्राहक सुविधा से प्राप्य होने चाहिए चाहे वे तल पर स्थित हों अथवा छिद्रों के माध्यम से उनसे सम्पर्क बना रहे।

अत्यधिक शीत (जुकाम) का प्रभाव—स्वाद तथा गंध में बहुत अधिक अन्तर नहीं है, परन्तु गन्ध का सम्बन्ध उन सूक्ष्म कणों से होता है जो वायु तथा जल में बहुत

1. Vomero-nasal organ

दूर से लाये जा सकते हैं, जबकि स्वाद ऐसे सांद्रित विलयनों से सम्बंधित है जो विशेष कर भोजन से प्राप्त होते हैं। यह सुपरिचित तथ्य है कि यदि हम चुटकी से अपने नासा-रन्ध्र को बन्द कर लें तो हम गन्ध अनुभव नहीं करेंगे, परन्तु कुछ स्वाद आता रहेगा। यह सीधा-सादा परीक्षण बहुत शिक्षाप्रद है क्योंकि इससे पता चलता है कि हमारी अधिकांश भोजन संवेदनाएँ स्वाद नहीं, वरन् गंध के कारण होती हैं। यह तथ्य इस सामान्य अनुभव द्वारा भी प्रतिपादित होता है कि अत्यधिक सर्दी या जुकाम होने पर भोजन अपेक्षित रूप से "स्वाद-विहीन" लगता है। वास्तव में जुकाम में भोजन के स्वाद की अपेक्षा सुगंध में बहुत बाधा पड़ जाती है। यदि हम रासायनिक चेतनाओं को ऐतिहासिक अनुक्रम में रखने का प्रयत्न करें तो गंध-संवेद का स्थान प्रथम, साधारण रासायनिक चेतना का द्वितीय तथा स्वाद-संवेद का तृतीय स्थान होगा।

पथ्य एवं अपथ्य भोजन की विवेचना करने एवं भोजन को अधिक लाभदायक बनाने के हेतु प्रारम्भिक उत्तेजना देने में स्वाद-संवेद का जीवशास्त्रीय महत्त्व है। यद्यपि स्वाद की प्रारम्भिक उत्तेजना कुछ हद तक भूख लगे रहने पर भी निर्भर रहती है।

हमने यहाँ लगभग आधे दर्जन से भी अधिक जिन चेतनाओं का वर्णन किया है उनमें यह बात सामान्य है कि उन्हें चेतनायुक्त तल पर रासायनिक पदार्थों के विलयन के सीधे प्रयोग से प्रोत्साहन मिलता है। इसी कारण वे रसदीप्त-ग्राहक कहलाते हैं और स्पर्श, दाब एवं श्रवण से, जो यांत्रिक-ग्राहक है, बहुत भिन्न होते हैं। प्रोफेसर पार्कर ने लिखा है—"इन अंगों मे उचित उद्दीपन एक विरूपण करने वाला दाब होता है जो उन टकराने वाले अथवा कम्पायमान पदार्थों द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता है जिनके लिए अन्तांग को स्वयं स्पर्श करना आवश्यक नहीं है, वरन् जो बीच में स्थित बहुत-से ऊतकों[1] के माध्यम से भी कार्य कर सकते है।" स्पर्शेन्द्रिय अथवा श्रवणेन्द्रिय जैसा कोई यांत्रिक ग्राहक बहुत अन्दर स्थित और पूर्णतः सुरक्षित हो सकता है, परन्तु घ्राणेन्द्रिय अथवा रसनेन्द्रिय-जैसे रसदीप्त ग्राहकों को विगोपित तल पर होना अथवा छिद्रों द्वारा तल से सम्बन्धित रहना आवश्यक है।

अरस्तू ने स्पर्श-संवेद को, मूलभूत चेतना माना है जो कई सहायक चेतनाओं से बनी है; इसमें उसकी अन्तर्दृष्टि परिलक्षित होती है। आधुनिक कायिकी ने इस तथ्य को सुसिद्ध कर दिया है। किसी मित्र के हाथ पकड़ने जैसे विरूपक दाब से उत्तेजित होने वाले त्वचा-ग्राहक उन ग्राहकों से जिनके द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि उसका हाथ

1. Tissues

गर्म है या शीतल अथवा उन ग्राहकों से जो उसकी पकड़ की शक्ति से हमें चौंका देते हैं, सर्वथा भिन्न है। दूसरे शब्दों में स्पर्श-चेतना, ताप अथवा शीत-ग्राहकों से पूर्णत: भिन्न है एवं पीड़ा की चेतना इन सबसे भिन्न है। त्वचा की ताप एवं शीत इन्द्रियों का उल्लेख करते हुए हम वास्तव में रसदीप्त ग्राहक एवं यांत्रिक ग्राहक को छोड़कर रेडियो ग्राहक की एक तीसरी श्रेणी में पहुँच गये हैं जो विकीर्ण ऊर्जा के परिवर्तन के प्रति क्रियाशील होती है और इस श्रेणी का उत्कृष्ट उदाहरण हमारी आँख है। हम मुख्य बात भूल न जायें, इसके लिए हमको ग्राहकों के तीन भागों में किये गये वर्गीकरण पर ज़ोर देना चाहिए; ग्राहक रासायनिक, यांत्रिक एवं विकीर्ण तीन प्रकार की उत्तेजनाओं के प्रतिक्रियाशील होते हैं। त्वचा में तीनों प्रकार के ग्राहक होते हैं जो तीनों प्रकार की उत्तेजना के प्रति क्रियाशील होते हैं। परन्तु कोई भी एक ग्राहक एक से अधिक प्रकार की उत्तेजना के प्रति ग्रहणशील नहीं होता। इसके विपरीत बम के विस्फोटन से उत्पन्न होने वाली संजटिल उत्तेजना विभिन्न प्रकार के ग्राहकों को प्रभावित कर सकती हैं।

हमने सारे संवेदक ग्रहीताओं की विवेचना अभी समाप्त नहीं कर ली है। अधिकतर अपृष्ठवंशी कान वाले जीवों में कान सुनने के लिए नहीं, वरन् संतुलन के लिए होते हैं और यही संतुलन-कार्य हमारे कान की अर्ध वृत्ताकार नलिका का भी होता है। विकास की प्रक्रिया में असाधारण श्रमविभाजन एवं विशिष्टीकरण हो गया है। यदि हम पीड़ा, भूख, प्यास और बहुत-सी अन्य चेतनाओं का यहाँ विवेचन करने लगें तो बात बढ़ जायेगी। हमारी केवल पाँच इन्द्रियाँ नहीं होतीं, बीस के लगभग चेतनाएँ होती हैं। इसके अलावा हमें उस विनोदशील व्यक्ति की भी पूर्वकल्पना कर लेनी चाहिए जो हो सकता है इसे "सामान्य संवेदन" (कॉमन सेन्स) के बारे में पूछ बैठे।

अध्याय ८

प्राणी-व्यवहार

प्राणियों के व्यवहार का अध्ययन करते समय संकुचित और उदार मनोवृत्ति के बीच का मार्ग निश्चित करने में सदा कठिनाई होती है। जन्तुओं में विवेक बुद्धि होना मानना, जिसका अर्थ है उनमें सामान्य विचारों का प्रयोग करने की शक्ति होना, सम्भवतः बहुत उदारतापूर्ण दृष्टिकोण है। उनको स्वचालित यंत्रों की श्रेणी में रखने का प्रयत्न सम्भवतः बहुत संकुचित विचारधारा का द्योतक है। तथ्य यह है कि जन्तुओं का व्यवहार बहुधा बौद्धिक, कभी नैसर्गिक प्रवृत्ति के लिए एवं कभी दोनों के विलक्षण मिश्रण के रूप में होता है। परन्तु इन शब्दों को यथार्थ अर्थ देना आवश्यक है।

बड़े मस्तिष्क व छोटे मस्तिष्क—बहुत वर्ष पहले एक प्रसिद्ध अनुसंधान-प्रबंध में सर रे लैंकेस्टर (Sir Ray Lankester) ने, अपने कार्यों को निपुणता से करने में जन्मजात दक्ष, परन्तु सीखने में बहुत ही मन्द चीटियों, मक्खियों एवं बर्रों जैसे "छोटे मस्तिष्क" वाले प्राणियों तथा अपेक्षाकृत कम पूर्व-निष्पन्न क्षमता वाले एवं इस कमी को शिक्षा ग्रहण करने की क्षमता द्वारा आवश्यकता से भी अधिक पूर्ण करने वाले घोड़े, कुत्ते तथा मनुष्य के समान "बड़े मस्तिष्क" वाले प्राणियों में स्पष्ट अंतर प्रदर्शित किया था। विकास की इन दोनों श्रेणियों की अपनी विशिष्टताएँ हैं; नैसर्गिक प्रवृत्ति के लिए किसी शिक्षण अथवा शिक्षुता[1] की आवश्यकता नहीं, जब कि बौद्धिक व्यवहार आकस्मिक घटना के लिए और नियत क्रम से हट सकने की सम्भावना के लिए सदा तैयार रहता है। अधिकतर उदाहरणों में, जैसे पक्षियों में, उनके व्यवहार का अधिकांश भाग (उदाहरणार्थ, घोंसले बनाना) स्वाभाविक (नैसर्गिक) हो सकता है, फिर भी प्राणी के लिए, नवीन परिस्थिति उत्पन्न होने पर, बुद्धि प्रयोग करने का अवसर खुला रहता है।

बौद्धिक एवं नैसर्गिक व्यवहार—एक दिन हमने एक महिला को अपनी बिल्ली को ऐसे बर्तन में दूध देते देखा जिसका मुँह इतना छोटा था कि उसमें बिल्ली का मुख

1. Apprenticeship

प्रवेश नहीं कर सकता था। बिल्ली ने बहुत सोच-विचार कर अपना पंजा दूध में डाला, उसे बाहर निकाला और चाटा और इसी भाँति सारा दूध उदरस्थ कर लिया, परन्तु साथ ही वह जरा धिक्कारपूर्ण दृष्टि से अपनी मालकिन की ओर देखती रही। हमें बताया गया कि बिल्ली ने स्वयं ही यह विधि ढूँढ़ निकाली थी और निश्चय ही इसमें बुद्धि का किंचित् उपयोग किया गया। बुद्धिपूर्ण आचार में कुछ अंश निर्णय का, कुछ जोड़-तोड़ का और कुछ "प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक निष्कर्ष" का रहता है।

दूसरी ओर एक छोटी मकड़ी जिसने कभी जाला न बनाया हो, प्रथम प्रयत्न में ही सर्वोत्तम नमूने का जाला बना सकती है। वह बिना किसी नमूने को सामने रखे ऐसा कर सकती है और जो जाला बनाती है उसमें पूर्व-प्रशिक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता। कभी वह अँधेरे में अथवा दोपहर होने के पहले ही जाला बना सकती है। यह तंत्रिका-कोशाणुओं एवं पेशी कोशिकाओं की आनुवंशिक पूर्व-व्यवस्था पर निर्भर नैसर्गिक प्रवृत्ति है, यद्यपि सम्भवतः हमेशा यह अपने मानसिक पहलू—व्याप्त चेतना और परिश्रम की पृष्ठ भूमि के बिना नहीं होती। यह निरीक्षित तथ्य तय है कि अनुभवहीन प्राणी में पहली बार ही ऐसी विलक्षण गहनता एवं व्यावहारिक निपुणता विकसित हो जाती है, जिसके सीखने की आवश्यकता नहीं होती। यही नैसर्गिक (मूल) प्रवृत्ति (Instinct) है।

चिन्तनशील ध्रुवीय भालू—एक बार हम एडिनबरा के सुन्दर चिड़ियाघर में एक ध्रुवीय भालू को देख रहे थे, और हमें बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार की स्पष्ट झलक देखने का सुअवसर मिला। उदार दर्शकों ने चट्टान से बने प्रायद्वीप की ओर, जिस पर भालू बैठा था, कुछ पाव रोटियाँ फेंकीं। यह प्रायद्वीप खाई के पानी में बढ़ा हुआ था और भालू का कलात्मक घर था। बहुत-सी रोटियाँ प्रायद्वीप तक न पहुँचकर पानी पर ही तैर रही थीं। पानी में छलांग लगाकर भालू उन सबको पकड़ सकता था, परन्तु वह पानी में घुसना नहीं चाहता था। इसलिए वह प्रायद्वीप के किनारे आकर अपने बड़े पंजे से पानी को खखोलने लगा। यह क्रिया तब तक चलती रही जब तक कि पाव रोटियाँ बहती हुई उसके निकट न आ गयीं और तब ध्रुवीय भालू ने उन सबको ले लिया। यह व्यवहार परीक्षणों या चिन्तन का परिणाम था। भालू ने नये लक्ष्य के लिए पुरानी विधि को अनुकूल बना लिया।

संवेदक सतर्कता[1]—जीवों में बौद्धिक ज्ञान है या नहीं, इसका अध्ययन करने

1. Sensory Alertness.

वाले को असावधानी के कारण बहुत बार धोखा खाना पड़ता है और हम भी यह दावा नहीं कर सकते कि हम सदा उनसे बच जाते हैं। संवेदक सतर्कता द्वारा आसानी से समझ में आने वाले कार्यों का श्रेय बुद्धिमानी को दिया जाना भी ऐसा ही धोखा है। इसी प्रकार चींटियों के संसार को मुख्यतः "गंध-संसार" कहा जाता है। चींटी गंध से शहद के भंडार का पता लगा लेती है, वह गंध और स्पर्श के द्वारा अपने पड़ोसियों को इसका ज्ञान दे देती है और गंध की सहायता से मार्गदर्शक की भाँति उनको छिपे हुए भण्डार तक ले जाती है और सूँघते हुए ही घर वापस पहुँच जाती है, परन्तु इस कार्य में बुद्धि का कोई आवश्यक उपयोग नहीं है।

प्रोफेसर जे० बी० वाटसन एवं डा० के० एस० लैश्ले नामक दो अमेरिकन अनुसंधान कर्त्ताओं ने कुछ समुद्री चिड़ियों (sooty terns and noddy terns) को चिह्नित कर टोर्टुगास द्वीप (Tortugas Islands) में उनके घोंसलों से लेकर उन्हे भोजन सामग्री से पूर्ण ढकी हुई डलियों में रखकर जहाज द्वारा १०८ मील दूर उत्तर स्थित हवाना में पहुँचा दिया। उनमें से कुछ पक्षी दूसरे ही दिन अपने घोंसलों में वापस आ गये यद्यपि वे कभी भी अपनी प्रवसन-यात्रा में टोर्टुगास से उत्तर की ओर नहीं जाते थे। जब वे और भी उत्तर में ८५० मील दूर हट्टेरास अन्तरीप (Cape Hatteras) पर ले जाये गये, तब भी उनमे से कुछ प्रतिशत सुरक्षित वापस आ गये। घर वापस आ जाने की इस क्षमता के दैहिक आधार के सम्बन्ध में हम पूर्णतः अंधकार में हैं, परन्तु हमारे यह मानने की कोई वजह नहीं है कि उन्होंने कुतुबनुमा देख कर दिशा जानी होगी। यह प्रश्न संवेदन की नैसर्गिक देन से सम्बंधित है।

साहचर्य-स्थापन[1]—विशेष दृष्टान्तों के बुद्धिमता-जनित होने या न होने का निर्णय करने में साहचर्य-स्थापन की क्रिया भी धोखा दे सकती है। जब कोई कुत्ता कुछ विशेष शब्दों का उच्चारण होते सुनता है अथवा अपने मालिक को खूँटी पर से विशेष चाभी उठाते देखता है तब उसके समयोचित व्यवहार में काल्पनिक "चतुरता" को देख कर आश्चर्य होना बहुत सामान्य बात है। परन्तु इसमें ध्यान से सुनने या देखने और दिमाग में शब्द अथवा दृश्य तथा विशिष्ट क्रिया में पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ लेने के अतिरिक्त वास्तव में चातुर्य कुछ भी नहीं है। इसमें कोई संशय नहीं कि कुछ कुत्ते, जिनसे दूसरे कमरे में जाकर जमीन पर पड़े हुए समाचारपत्र लाने को कहा जाय, ले आयेंगे और इससे भी अधिक अनेक आश्चर्यजनक कार्य कर लेंगे। परन्तु मछलियों

1. Association Formation

जैसे मन्दगति एवं घोंघे जैसे निम्न श्रेणी के प्राणी भी दिमाग में इस प्रकार के साहचर्य स्थापित कर लेते हैं। दूसरी ओर जब अण्डों की डलिया मुँह में दबाकर ले जाता हुआ कुत्ता रास्ते में तारों का बाड़ा आ जाने पर उसे लाँघने के पहले डलिया को तारों के नीचे से दूसरी ओर खिसका देता है तब हम वास्तव में बुद्धिमत्ता का प्रयोग पाते हैं। भेड़ों को एकत्रित करने या दो झुण्डों की मिली हुई भेड़ों को पृथक् करने में स्काटलैंड के गड़ेरियों के कुत्ते का सावधानी से व्यवस्थित व्यवहार वास्तव में ऊँची श्रेणी की बुद्धिमत्ता का प्रमाण है यद्यपि निःसंदेह इसकी प्राप्ति दीर्घ अनुभव एवं मनुष्य के सहयोग से होती है। इसी भाँति किसी छोटी-सी रेलवे साईडिंग पर रेल का मार्ग बदलने वाले अश्व का व्यवहार भी बहुत बुद्धिमता पूर्ण होता है।

अनुभव से लाभ उठाना—हमें किसी न किसी कोटि की बुद्धिमत्ता का परिचय उस समय मिलता है जब हम न्यायसंगत रूप में कह सकें कि प्राणी में अवसर के प्रति विवेचक सतर्कता है और वह छोटे-मोटे परिवर्तनों से उस तरह हतबुद्धि नहीं होता जिस तरह मुख्यतः नैसर्गिक प्रवृत्ति वाले प्राणी हो जाते है। बाल चिड़िया जंगल में शीघ्र ही घोंघों का कवच विशेष स्थान पर तोड़ना सीख लेती है। एक प्रकार के कौए (रुक, rook) शम्बुक (सीपदार मछली) को जल में से निकाल ऊँचे ले जाकर ऊपर से छोड़ देना सीख लेते हैं जिससे कंकड़ों पर गिर कर उनके कवच टूट-फूट जाते हैं। चिम्पैन्ज़ी का चार डण्ठल माँगने पर चार ही देना सीख लेना सचेतनता है, परन्तु तीन ही डंठल पास होने पर समय बचाने के लिए एक डंठल को मोड़ कर दुहरा करके चारों सिरे दिखा देना उसकी बुद्धिमत्ता है। जब इस चालाकी के कारण उसको निर्धारित पुरस्कार नहीं दिया जाता, तब मुड़े हुए डंठल को सीधा कर एवं एक और उठा कर देना पहले से भी अधिक बुद्धिमत्ता का कार्य है। इसमें अवसर पर चिम्पैन्ज़ी विवेचक सतर्कता दिखलाता है।

यह सम्भव है कि घोड़े तथा कुत्ते-जैसे बड़े मस्तिष्क वाले प्राणियों में सीखने की योग्यता हमारी कल्पना से भी अधिक हो, क्योंकि इनमें से मनुष्य के घनिष्ठ सहयोग में आ गये प्राणियों में हम विलक्षण सम्भावनाओं की झलक देखते है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी जंगली जानवर में उसके जीवन की परिस्थितियों की आवश्यकता से अधिक बुद्धि का होना लाभदायक नहीं है। यह अवश्य है कि मनुष्य के साथ कार्य करना कुत्ते की बुद्धि की सम्भावनाओं को मुक्त कर दे और वह उस वस्तु का स्थान ग्रहण कर ले जो मनुष्य के द्वारा किसी झुंड के एक बाल सदस्य को पालतू बनाने के पश्चात् गायब हो गयी है।

सर्वाधिक बुद्धिमान् प्राणी कौन हैं ?——वास्तव में पक्षी एवं स्तनधारी सब से अधिक चतुर होते है। पक्षियों में रुक कौओं, सारसों एवं तोतों को चतुराई के लिहाज से सर्वोपरि स्थान देना चाहिए, जो सब सामाजिक जीव हैं। स्तनधारियों में यूथचारी (झुंड में रहनेवाले) मांस-भक्षियों, हाथियों एवं घोड़ों आदि को मुख्य स्थान देना होगा। इसमें कोई संशय नहीं कि सामाजिक संस्थाएँ चतुराई के विकास में सहायक होती हैं और यह कहना कि चतुरता की वृद्धि सामाजिकता में सहायक होती है, घुमावदार तर्क नहीं होगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण एक शब्दावली का होता है जैसा हम रुक कौए व कुत्तों में पाते हैं। बन्दर व बनमानुषों ने, अन्य स्तनधारियों की अपेक्षा एक उच्च श्रेणी का सतत, कार्यरत, परीक्षणात्मक मस्तिष्क पाकर बहुत प्रगति की है। "यहाँ तक कि अन्त में मनुप्य का आविर्भाव हुआ"।

अध्याय ९

रुधिर (रक्त)

दो हजार वर्ष से भी पूर्व अरस्तू ने प्राणियों को रुधिरमय तथा रुधिरहीन श्रेणियों में विभाजित किया था। यह वर्गीकरण वर्तमान रीढ़धारी एवं बिना रीढ़ वाले प्राणियों में किये गये वर्गीकरण के कुछ समान ही था। प्राविधिक दृष्टि से यह वर्गीकरण अशुद्ध था क्योंकि बहुत-से बिना रीढ़ के प्राणियों में भी रुधिर होता है। परन्तु ऊपर से देखने पर यह जितना गलत प्रतीत होता है, सम्भव है कि वास्तव में उतना गलत न हो क्योंकि अरस्तू ने वर्गीकरण करते समय केवल लाल रुधिर का ही विचार किया होगा और अधिकतर बिना रीढ़ के प्राणियों के रुधिर में लाल रंग नहीं होता। कई प्रकार के मोलस्क (molluscs) कीटों, क्रस्टेशियों (crustaceans) आदि के रुधिर में हलके नीले रंग का वर्णक (हीमोसयानिन haemocyanin) होता है जो सहज निरीक्षण करने पर कठिनाई से दृष्टिगोचर होता है तथा रीढ़वाले प्राणियों में पाये जानेवाले लाल रुधिर वर्णक हीमोग्लोबिन (रुधिर वर्णिका, haemoglobin) की अपेक्षा इसमें आक्सीजन ग्रहण करने की शक्ति भी कम होती है। यद्यपि दोनों ही धातुयुक्त पदार्थो से संयुक्त प्रोटीन हैं तथापि हीमोग्लोबिन में वह धातु लोहा है एवं हीमोसायनिन में ताँबा। एक प्रसिद्ध रसायनज्ञ द्वारा प्रस्तुत हीमोग्लोबिन के एक अणु का सूत्र देना यहाँ रुचिकर होगा। इसमें परमाणुओं की संख्या इस प्रकार है—कार्बन ७५८, हाइड्रोजन १२०३, नाइट्रोजन १९५, गंधक ३, लोहा १, और आक्सीजन २१८; या संक्षेप में

$$C_{758}, H_{1203}, N_{195}, S_3, Fe, O_{218}$$

जब हम वर्षा के पानी से भरे किसी खुले पीपे में देखते हैं, तो कभी-कभी हमें ऊपर-नीचे जाते हुए रक्त वर्ण के "रुधिर कृमि" स्पष्ट चमकते हुए दिखाई देते हैं। वे एक प्रकार के मशक जातीय कीड़े मिज, (midge), हार्लेक्वीन फ्लाई (Harlequin fly) अथवा काइरोनोमस (Chironomus) की संतति होते हैं और उनमें हीमोग्लोबिन होता है। यह बात बहुत रुचिकर है, क्योंकि जैसा हम कह चुके हैं, हीमोग्लोबिन

की आक्सीजन ग्रहण करने की शक्ति हीमोसायनिन से अधिक होती है और हीमोसायनिन ही कीटों में रुधिर-वर्णक के रूप में पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार हार्ले-क्वीन फ्लाई के जल में रहने वाले डिम्भ (Larva) जल में जहाँ कि आक्सीजन बहुत ही कम होती है और जहाँ बहुत-से अन्य जलीय कीटों के लिए जीना भी बहुत कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता है, बढ़ सकते है। यह प्रकृति की एक विधि का उदाहरण है जिसमें हीमोग्लोबिन की उपस्थिति रुधिर कृमि के लिए ऐसा अवसर प्रस्तुत कर देती है जो उसकी कोटि के अन्य कीड़ों को प्राप्त नहीं है। इस चर्चा में हम अपने विषय से हटे नहीं हैं, अपितु इसके द्वारा हमने रुधिर के आक्सीजन-ग्रहण नामक सामान्य कार्य का एक स्पष्ट उदाहरण लिया है।

शरीर कोशिकाओं से बना हुआ नगर है। यह उपमा ही रुधिर अथवा किसी अन्य आन्तरिक माध्यम की आवश्यकता जतलाने के लिए पर्याप्त है। जिस तरह नगर में जल तथा भोजन वितरण करने एवं क्षेप्य पदार्थ निष्कासित करने का साधन होना चाहिए, उसी तरह शरीर में भी। परन्तु शरीर की आवश्यकताएँ प्रायः अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण होती हैं। सबसे निकृष्ट नगर के सबसे अधिक बसे हुए भागों में भी थोड़ी-सी वायु प्रवेश कर जाती है, परन्तु जटिल शरीर के कोटरों में रक्त की सहायता के विना उतनी भी वायु का प्रवेश सम्भव नहीं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जव रुधिर नहीं था तब प्राणी कैसे जीवित रहते थे? जैसा कि अरस्तू ने कहा था, बहुत-से बिना रीढ़ के प्राणियों में रुधिर नहीं होता। प्राणी जब तक छोटा रहता है, तब तक शरीर को जल, आक्सीजन और पाचित भोजन कैसे प्राप्त होता है तथा क्षेप्य पदार्थ कैसे निष्कासित होते हैं, इसको समझना कठिन नहीं है। वास्तव में यह विसरण (diffusion) द्वारा होता है और मुख्यतः विसरण की यही विधि पौधों में पायी जाती है।

मनुष्य के सिर जितना बड़ा स्पंज, जलपरी (mermaid) के बैठने लायक बड़ी जैली फिश (jelly fish), गाड़ी के पहिये के बराबर मूँगे की बड़ी वस्ती, चार फुट ऊँचा समुद्री सर्प (sea-pen) ये सभी काफी बड़े शरीर वाले होते हैं, फिर भी इनमें रुधिर नही होता। परन्तु इनके सारे शरीर में नालें फैली रहती हैं जिससे इनमें किसी अन्य वितरण-माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। सूत्र-कृमि-जैसे कुछ उच्च श्रेणी के प्राणियों में शरीर की गुहा या विवर में एक द्रव भरा रहता है, परन्तु रुधिर नहीं होता। सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि पट्ट कृमि (ribbon worms) अथवा निमेरटीज (nemertines) ऐसे प्रथम प्राणी थे जिनमें व्यवस्थित रुधिर तंत्र होता है और सबसे नीची श्रेणी के प्राणियों में उन्हीं में हीमोग्लोबिन होता है।

सीअर्चिन (sea-urchin) के समान बहुत-से प्राणियों में शरीर-गुहा द्रव, रुधिर की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। केचुओं में भोजन के वितरण में शरीर-गुहा-द्रव ही अधिक महत्त्व का होता है और रुधिर केवल वाति या गैसों तथा नाइट्रोजनीय क्षेप्य को ले जाने का कार्य करता है। कीटों में रुधिर सम्पूर्ण शरीर में अनिश्चित आकार के रिक्त स्थानों में होकर प्रवाहित होता रहता है और उनमें अलग से शरीर-गुहा-द्रव नहीं होता। संक्षेप में अनेक श्रेणियों से होकर हम अपनी श्रेणी में पहुँचते है जिसमें दो तंत्र होते हैं—(१) धमनियों, केशिकाओं तथा शिराओं का व्यवस्थित तथा अनवरत तंत्र जिनमें रुधिर रहता है; और (२) लसीकायनी[1] का एक और उपतंत्र जिसकी सूक्ष्म पतली भित्ति वाली केशिकाएँ रुधिर केशिकाओं एवं ऊतियों के बीच माध्यक का कार्य करती है। पोषण तथा आक्सीजन का विसरण रुधिर से लसीका (lymph) को होता है और वहाँ से ऊतक को; ऊतक से क्षेप्य पदार्थों तथा कार्बन डाईआक्साइड का वितरण लसीका को होता है और वहाँ से रुधिर को।

सामान्य मनुष्य में रुधिर का भार शरीर के भार का बीसवाँ भाग होता है, परन्तु यदि वह मनुष्य समुद्र तल से ६००० फुट की ऊँचाई पर जोहनसबर्ग में रहने को चला जाय तो उसके शरीर में लाल रुधिर-कणिकाओं की संख्या बढ़ जायगी और साथ ही शरीर के भार के परिमाण में रुधिर का भी भार बढ़ जायगा। अधिक ऊँचाई पर लाल रुधिर-कणिकाओं की संख्या बढ़ना आवश्यकतानुसार विशिष्ट परिवर्तन का अच्छा उदाहरण है; इसका अर्थ है कि मनुष्य में आक्सीजन, जिसकी मात्रा ऊँचाई पर कम होती जाती है, ग्रहण करने की शक्ति बढ़ जाती है।

रक्त-द्रव बहुत ही जटिल मिश्रण है। इसमें शरीर को देने के लिए विलयित प्रोटीन, कुछ शर्करा, कुछ वसा, पर्याप्त मात्रा में आक्सीजन तथा कुछ लवण होते हैं। इनका स्वभाव तथा परिमाण आश्चर्यजनक रूप से समुद्री जल की रचना के समान होता है विशेष कर उस काल के समुद्री जल से जिसमें प्रथम-उत्पन्न रुधिर-धारी प्राणी रहे होंगे। अपने ऊपर पूर्व काल के पूर्वाधिकारों से हम मुक्त नहीं हो सकते; जब हमारा सिर स्पंदित होता है तब सम्भवतः हमें तट से टकराते हुए पूर्वकालीन समुद्र का नाद सुनाई देता है। परन्तु जैसा कि हमने अभी कहा है, रक्त-द्रव बहुत ही जटिल मिश्रण है; इस में शरीर से लिये हुए कुछ नाइट्रोजनीय क्षेप्य (विशेष कर यूरिया urea) और कार्बनडाइआक्साइड (सोडे के रूप में) भी रहते हैं। यह कहना अनावश्यक ही

1. lymph-vessels

है कि रुधिर में अधिकांश (९० प्रतिशत से भी थोड़ा अधिक) जल ही होता है। आप कुछ भी कहें, पर जीवन बहुत कुछ "जलीय वस्तु" ही होता है।

हम यहाँ जितना आभास दे पाये हैं, रक्त-द्रव उससे भी अधिक जटिल मिश्रण है। यह उन निःस्रोत तथा अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से जो ऊतक-रूपी तालों को ढूँढ़ने-वाली और आवश्यकतानुसार उन्हें खोलने अथवा बन्द कर सकने में समर्थ प्रदृश्य रासायनिक कुंजियाँ हैं, सूक्ष्म न्यासर्ग हारमोन तथा चेलोन (chalones) ले जाता है। इसके अतिरिक्त उसमें प्रतिकारक अथवा प्रतिपिंड भी होते हैं जो विशेषकर अणुजीवों द्वारा उत्पन्न विष के प्रभाव का परिहार करते हैं। एक और विलक्षण वस्तु प्रतिथ्राम्बिन (antithrombin) भी रक्तद्रव में रहती है जो सामान्य रुधिर वाहि-नियों में रुधिर को थक्का नहीं बनते देती। कुछ बूढ़े तथा रोगी लोगों के मस्तिष्क की रुधिर वाहिनियों में थक्का बन सकता है जिससे प्रायः लकवा (पक्षाघात) तथा मृत्यु हो जाती है।

ऊतक, जैसा कि मांस का टुकड़ा, मस्तिष्क, वसापिण्डक, या उपास्थि (कार्टिलेज), एक ही तरह की कोशिकाओं का एक ही तरह के प्रकार्य वाला रक्त समूह है; और रुधिर भी ऊतक है—तरल ऊतक। जिस जटिल माध्यम की हमने चर्चा की उसमें मानो लाखों लाल रुधिर कणिकाओं व श्वेत रुधिर कणिकाओं रूपी जीवित इकाइयाँ अथवा कोशिकाएँ विद्यमान हैं। उच्च श्रेणी के प्राणियों में श्वेत रुधिर कणिकाएँ कई तरह की होती है जिनमें सक्रिय भक्षक-अण्ड (phagocytes) भी सम्मिलित हैं जो कभी-कभी अनधिकार प्रवेश करने वाले अणु जीवों का परिहार करने के लिए आकुल होकर रुधिर-वाहिका से बाहर चले जाते हैं। हमारे शरीर में उपस्थित लाल रुधिर कणिकाओं की संख्या का अनुमान लगा पाना सम्भव नहीं, यद्यपि इन्हें अवश्य ही गिना जा सकता है। वैसे हम यह कह सकते हैं कि आलपिन की नोक से भी छोटी रुधिर की बूँद (लगभग एक घन मिलीमीटर) में, लगभग ५० लाख लाल रुधिर कणिकाएँ एवं बीस हज़ार श्वेत रुधिर कणिकाएँ होती हैं और हमारे शरीर में लगभग दस पाइंट रुधिर होता है जिसे हमारा हृदय नित्य लगभग एक मील चक्कर लगाने को बाध्य करता है। इसका अर्थ है कि यदि हम समस्त रुधिर-कोशिकाओं को एक के ऊपर एक रखते चले जाएँ तो लगभग चंद्रमा की दो तिहाई दूरी तक पहुँच जायेंगे। यदि यह तर्क किसी की समझ में न आया हो तो उसे डा० रोनाल्ड केम्पबेल मेक्फी (Dr. Ronald Campbel Macfie) द्वारा रचित "रोमांस ऑफ दी ह्यूमन बॉडी (Romance of the Human Body) पढ़ना चाहिए।

हमारा उद्देश्य यहाँ केवल इस साधारण विचार को स्पष्ट करना है कि रुधिर एक सामान्य माध्यम है जिससे शरीर के सभी ऊतक कुछ लेते और जिसको कुछ पदार्थ देते हैं। यह पाचित भोजन को वितरित करता है, आक्सीजन को ग्रहण करने के स्थान (फेफड़ों) से लेकर दहन के स्थान (पेशियों) तक पहुँचाता है; यह दहन के स्थान से कार्बन डाइआक्साइड लेकर मुक्ति के स्थान (फेफड़ों) तक ले जाता है; यह शरीर के सूक्ष्म नाइट्रोजनीय क्षेप्य पदार्थ एकत्रित कर यकृत (जिगर) और वृक्क में शुद्धि हेतु पहुँचा देता है; यह हारमोन एवं शारीरिक ताप का वितरण करता है; इसमें विलक्षण प्रतिपिंड होते हैं जो विष का परिहार करते हैं। रुधिर की कोशिकाओं को बहुत कार्य करना पड़ता है और वे निरन्तर नष्ट होती रहती हैं। परन्तु हड्डी की लाल मज्जा तथा प्लीहा से उतनी ही नवीन कोशिकाएँ आकर उनका स्थान ले लेती हैं। सच तो यह है कि "रुधिर ही जीवन है।"

अध्याय १०

उष्ण तथा शीत

हर आदमी जानता है कि शरीर में उष्णता होती है । हम सभी को शीतल हाथ का स्पर्श अरुचिकर प्रतीत होता है और हम तुरन्त कह देते है कि "शीतल हाथ का अर्थ उष्ण हृदय है।" यदि हम गाय की गर्दन पर हाथ रखें तो वह हमें अति सुखमय उष्ण प्रतीत होती है। यदि हम फिंच (finch) चिड़िया हाथ में पकड़ पायें तो हमें उसके शरीर का तापमान अपने शरीर के तापमान से, जो प्राय: ३७° सें० होता है, कहीं अधिक लगेगा। अण्डा देनेवाले काँटेदार चींटी खोर (ऐन्ट ईटर ant eater) की जाँच करने पर हमें ज्ञान होगा कि उसके शरीर का तापमान हमारे तापमान से लगभग ७° सें० कम होता है, परन्तु उसे उष्ण कक्ष में रखकर या दिक करके उसके शरीर का तापमान बहुत बढ़ाया जा सकता है।

प्राणी-ऊष्मा—प्राणी-ऊष्मा क्या है, एवं उसका क्या महत्त्व है? उच्च श्रेणी के प्राणियों में ऊष्मा शरीर में होने वाले दहन अथवा उपचयन आक्सीकरण, (oxidation) के कारण उत्पन्न होती है। यह विशेषकर पेशियों के सम्बन्ध में होती है जो विश्राम काल में भी ऊष्मा उत्पन्न करते हैं। ऊष्मा की स्रोत हैं शरीर में होने वाली रासायनिक क्रियाएँ जो भोजन पर निर्भर रहती हैं, भोजन अन्ततः पौधों से आता है तथा पौधे अपनी समस्त ऊर्जा सूर्य से प्राप्त करते है । इस प्रकार प्राणी-शरीर का ताप सूर्य की ऊर्जा के रूपान्तरण का फल है; क्योंकि कोई भी प्राणी नवीन ऊर्जा नहीं उत्पन्न कर सकता, वह केवल ऊर्जा का रूपान्तरण तथा संचय कर सकता है।

शारीरिक ऊष्मा का सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोग शरीर में होनेवाली रासायनिक क्रियाओं को तीव्रता तथा एकरूपता से चलाते रहने में होता है। इससे हम समझ सकते है कि पक्षियों तथा स्तनधारियों-जैसे समतापी (शीत रक्त वाले) कहलाने वाले प्राणी, जिनका शारीरिक तापमान दिन-रात वर्षों तक स्थायी रहता है क्यों सरीसृपों, उभयचरों तथा मछलियों-जैसे असमतापी उष्ण रक्त वाले प्राणियों से जिनका शारीरिक तापमान वातावरण के तापमान के बराबर रहने की ओर प्रवृत्त रहता है, अपेक्षा-

कृत दृढ़ स्थिति में होते हैं। हम कह सकते हैं कि हमें ठंढक या गर्मी लग रही है परन्तु वास्तव में जव तक कि हम रोग-ग्रस्त न हों, हमारा शारीरिक ताप अधिक घटता बढ़ता नहीं है।

समतापी तथा असमतापी—समतापिता शरीर का तापमान स्थिर बनाये रखने वाली शक्ति है। यदि किसी पक्षी या स्तनधारी का शरीर अधिक ठंडा हो जाता है तो रुधिर के घटे हुए तापमान के कारण मस्तिष्क के ऊष्मा-नियंत्रक केन्द्रों से मांस-पेशियों को अधिक ऊष्मा उत्पन्न करने तथा त्वचा की रुधिर वाहिनियों को संकुचित होने के आदेश भेज दिये जाते हैं। बहुत अधिक बढ़ते हुए तापमान को रोकने के लिए या तो प्राणी को शान्त पड़े रहना होता है, या उसे अपनी श्वसन गति को हाँफते हुए कुत्ते के समान तेज करना पड़ता है, अथवा तेजी से पसीना निकलने से भी तापमान कम हो जाता है।

यदि जाड़े की शाम में किसी पक्षी के बच्चे को कुछ देर के लिए खुला रखा जाय तो उसका शारीरिक तापमान कम होता जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है क्योंकि बाल पक्षी में अभी ऊष्मा-नियंत्रण-प्रबन्ध पूर्णतः विकसित नहीं हुए रहते। इसी प्रकार कुछ स्तनधारियों में अपने पूर्वजों के लक्षण अवशिष्ट हैं और वे अपूर्ण समतापी है; वे अपने सरीसृपीय पुरखों की असमतापिता से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाये है। इन अपूर्णतः समतापी स्तनधारियों में से कुछ शीत-निष्क्रियता द्वारा अपनी दुर्बलता का लाभ उठाते हैं। हम प्राणी की शारीरिक ऊष्मा की जैविकी क्रिया के उदाहरण शीतकालीन निद्रा तथा स्वेदन, दो बहुत ही भिन्न वृत्तियों की प्रक्रिया को समझेंगे।

शीतकालीन निद्रा—शीत काल की घोर ठंडक और जाड़े से बचने के अनेकों उपाय हैं। कछुए तथा मेंढक-जैसे कुछ असमतापी प्राणी शीत काल में शिथिल होकर पड़े रहते हैं और जीवन-प्रक्रिया की सामान्य प्रविधि को भी रोक देते है। वे बिना किसी घातक परिणाम की सम्भावना के बहुत कम शारीरिक तापमान में रह सकते है, परन्तु यदि शीत इतनी अधिक हो कि शरीर में स्थित पानी भी जमने लगे तो उनकी मृत्यु हो जाती है। कुछ असमतापी प्राणियों में शीतकालीन शिथिलता वास्तविक शीत-निष्क्रियता, से, जो कांटेदार चींटी खोर (ant eaters), सेही (hedge hog), चमगादड़, एक प्रकार की गिलहरी (marmot) तथा एक प्रकार के चूहे (dormouse) जैसे कुछ स्तन-धारियों तक ही सीमित है, भिन्न होती है। ये प्राणी अपूर्ण समतापी होते हैं और शीत काल में होनेवाली ऊष्मा की सामान्य क्षति को पूरा करने के लिए आवश्यक ऊष्मा उत्पन्न नहीं कर पाते। वास्तव में वे इसे असम्भव मान कर प्रयत्न नहीं करते

और किसी ऐसे स्थान में अकर्मण्यता की स्थिति में बन्द रहते हैं, जिसके तापमान के निकट पहुँचने की उनके शारीरिक तापमान की प्रवृत्ति हो सकती है। यदि वे खुले में सो जायें तो शीत में जमकर मृत्यु के ग्रास हो जायेंगे; परन्तु किसी सुखकर छिद्र या सुरक्षित कोने में अति मूर्छा या निश्चेतनता में पड़े रहना प्रायः भयरहित होता है। यदि सोने की जगह बहुत ठंढी हो जाती है तो वे सोये हुए ही मर जाते हैं।

सामान्य शीतकालीन निद्रा के दौरान प्राणी न तो भोजन ग्रहण करता है, न ही क्षेप्योत्सर्ग कर पाता है; हृदय बहुत दुर्बल गति से धीमे-धीमे चलता है; श्वसन लगभग बन्द हो जाता है; संगृहीत वसा का कुछ भाग दहन द्वारा ऊष्मा उत्पन्न करता रहता है जिससे अनिवार्य क्षति की पूर्ति होती है।

सर्वदा शीतकालीन निद्रा ही नहीं—यह सम्भव है कि शयन-कक्ष की उष्णता तथा बन्द वायु सोने वाले प्राणी को निद्रित रखे रहे तथा शरीर में क्षेप्य पदार्थों का संचय होने से, 'स्वयं प्रेरित मदहोशी' उत्पन्न हो जाय, परन्तु यह ध्यान में रखना होगा कि शीतकालीन निद्रा व्यक्तिगत नहीं, वरन् जातीय लक्षण है। कालान्तर में यह आन्तरिक लय की भाँति प्राणी की प्रकृति का अंग बन गयी है और सामान्यतः, यद्यपि अनिवार्यतः नहीं, ऋतु की आवृत्ति के अनुरूप कार्य करती है। जब तक एडीरोनडैक्स (Adiron dacks) के लिए मौसम उष्ण तथा सुखकर रहे वुडचक्स (Woodchucks) निद्राग्रस्त रह सकती हैं, परन्तु बहुत अधिक शीत शीतस्वपितों को भी जगा दे सकती है।

एक प्राचीन अनुसंधानकर्त्ता का यह कहना बहुत कुछ सत्य है कि शीतकालीन निद्रा वास्तव में निद्रा नहीं है तथा इस निद्रा का शीतकाल से ही कोई निश्चित संबंध नहीं है। मैडेगास्कर की टेनरेक (tenrec, एक प्रकार की सेही) की ग्रीष्मकालीन निद्रा तथा यूरोप की सेही की शीतकालीन निद्रा में कोई भेद नहीं है।

हलकी तथा गहरी नींद—शीतकालीन निद्रा लेने वाले प्राणियों में निद्रा की गहनता भिन्न-भिन्न होती है।

निद्रित सेही को यदि बीस मिनट के लिए पानी में डुबो दें अथवा अनिष्टकर गैस या वाति में रखें, तो भी वह जगेगी नहीं; इसी प्रकार मारमोट (marmot) भी गहन निद्रा वाला प्राणी है। दूसरी ओर डोरमाऊस (dormouse) की निद्रा हलकी होती है; और बहुत-से चमगादड़ भी मध्य शीतकाल में अच्छी ऋतु होने पर जग जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि गहन शीतनिष्क्रियता में कृत्रिम व्याघात का शरीर पर हानिकारक प्रभाव होता है तथा यह जीवन की लय को बिगाड़ देता है और कभी-कभी मृत्यु का भी कारण हो जाता है।

जब पुनः जागने का समय आता है तो प्राणी फिर क्रियाशील हो जाता है तथा शारीरिक ताप फिर सामान्य स्तर पर आ जाता है। डा० पेम्ब्रे (Dr. Pembrey) ने देखा कि जगने पर एक डोरमाऊस का तापमान ४२ मिनट में १९° बढ़ गया।

शीत-निष्क्रिय तथा शीत-अनिष्क्रिय प्राणी—यदि यह पूछा जाय कि सेही क्यों शीतनिष्क्रिया करती है, जब कि छछूँदर नहीं करती, तो एक जबाब यह हो सकता है कि छछूँदर पृथ्वी खोद कर बिल बनाने वाला प्राणी है तथा वह घने जाड़े में भी तुषार (पाला) की पहुँच से दूर केंचुए तथा कीड़े प्राप्त कर लेता है। यदि यही बात चमगादड़ के सम्बन्ध में पूछी जाय कि वह क्यों शीतनिष्क्रिया करता है जब कि पक्षी नहीं करते तो एक कारण हम यह बता सकते हैं कि उत्तर के शीतोष्ण क्षेत्रों के पक्षियों में से अधिकतर अन्य स्थान पर देशान्तर-गमन करके शीत ऋतु से बच जाते हैं। यदि यह पूछा जाय कि मारमोट क्यों शीतनिष्क्रिय होता है जब कि स्टोट्स (stoats) नहीं होते हैं तो एक जबाब यह हो सकता है कि स्टोट शीत ऋतु में श्वेत रोम के लबादे से ढका रहता है जो शीत का सामना करने की उसकी समस्या को सरल बना देता है। यदि यह पूछा जाय कि किरघीज़ (Kirghiz) के मैदान में पाया जाने वाला जरबोआ (Jerboa) क्यों शीतनिष्क्रिय होता है जब कि और भी उत्तर के जंगलों में रहने वाली गिलहरियाँ नहीं होतीं तो एक जबाब यह हो सकता है कि गिलहरियाँ भोजन का भाण्डार संगृहीत किये रहती हैं।

सामान्यतया हम यह कह सकते हैं कि जो स्तनधारी प्राणी शीतनिष्क्रिय नहीं होते उनके पास शीत ऋतु का सामना करने के लिए विशेष अनुकूलन अथवा क्षमता होती है, और इनमें से जिनके पास यह साधन नहीं होता तो उनकी शारीरिक रचना ही श्रमशील व प्रतिरोधक होती है जैसा कि हम भेड़ियों व लोमड़ियों में पाते हैं।

परन्तु इसके दूसरे कारण की ओर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं। स्तनधारी असमतापी प्राणियों के वंशज हैं; इनमें से कुछ दूसरों की अपेक्षा कम समतापी हैं क्योंकि उनके ताप-नियंत्रण-प्रबन्ध में कुछ अपूर्णता होती है। उन्होंने आवश्यकतानुकूल शीतनिष्क्रिय बनकर इसको एक गुण बना लिया है। वे दैनिक जीवन के लिए तापमान को आवश्यक स्तर पर स्थिर नहीं रख सकते इसलिए वे जीवन-रक्षणात्मक असमतापिता एवं अकर्मण्यता को अपना लेते हैं। वे ऐसी स्थिति में पहुँच जाते हैं जहाँ वे भोजन की कमी का अनुभव किये बिना ही भूखे रह सकते हैं। वे शीत, एवं अभाव के साथ युद्ध करते हुए अपने आप को मार डालने के बदले संवेदन-रहित निरुपाय स्थिति में पड़े रहते हैं।

दूसरे शब्दों में शीतकालीन निद्रा जीवित रहने के लिए धीरे-धीरे अपने में ढाली गयी एक अनुकूली प्रतिक्रिया है। इस सबके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि शीतकालीन निद्रा का लम्बा विश्राम-काल—जिसमें न खाने से भी विश्राम हो—पुनरोजीकरण (Rejuvenescence) की विधियों को शरीर की बढ़ती वृद्धप्रायता का परिहार करने का अवसर देता है।

मुख पर का पसीना—ग्रीष्म के दिनों में बहुत-से लोगों को मनुष्य की प्रथम अवज्ञा के परिणाम स्वरूप दिये गये बाइबिल के इस ईश्वरीय विधान कि "तू अपना पसीना बहाकर रोटी प्राप्त करेगा" की सत्यता चरितार्थ होती हैं। यह स्वेद क्या है ? हमें क्यों पसीना आता है ?

स्वेदन स्तनधारियों की विशेषता है, परन्तु कुछ स्तनधारियों में इसका अभाव होता है। वास्तव में पेचदार ढक्कन के आकार की स्वेदग्रन्थियाँ आस-पास के रुधिर में से पानी (जिसमें सूक्ष्म मात्रा में लवण तथा वाष्पशील पदार्थ रहते हैं) छानकर बहुत सूक्ष्म छिद्रों द्वारा त्वचा के बाहर निकाला करती है। त्वचा पर के सूक्ष्म छिद्र वास्तव में स्वेद-ग्रंथियों के बहिर्मार्ग हैं और एक वर्ग इंच में इनकी संख्या दो-तीन हजार तक भी हो सकती है। त्वचा में वसा ग्रन्थियाँ (sebaceous glands) भी होती हैं जो वसा का निर्माण कर त्वचा तथा रोम को अच्छी स्थिति में रखती हैं, परन्तु वे अधिकतर उन छोटी परिखाओं में खुलती हैं, जिनमें से रोम निकलते हैं।

जल का परिवहन बनाये रखना—हलका स्वेदन (पसीना) तथा शुष्क वायु होने पर स्वेद तत्काल ही सूख जाता है; परन्तु अधिक उष्णता एवं आद्र वायु होने पर स्वेद की बड़ी-बड़ी बूँदें आसुओं की भाँति मुँह पर बहने लगती हैं। त्वचा स्वेद-कणों के कारण चमकने लगती है तथा हथेली-जैसे स्थान बहुत आर्द्र हो जाते हैं। स्वेद में सबसे अधिक अंश जल का होता है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जीवित पदार्थ में भी सबसे अधिक अंश पानी का होता है तथा कभी-कभी ९० प्रतिशत से भी अधिक पानी होता है। स्वेद के रूप में निकलने वाला पानी रुधिर से आता है तथा रुधिर इसे आहार नाल और शरीर के ऊतकों से अवशोषित करता है। सामान्यतः स्वेद ग्रन्थियों से लगभग दो-तीन पिन्ट[1] पानी चौबीस घंटे में स्वेद के रूप में निकल जाता है और यह कहा जा सकता है कि उपयोगी आन्तरिक जल-परिवहन

१. पिंट याने १।८ गैलन, लगभग ११ छटांक।

बनाये रखने में स्वेदन सहायक होता है। परन्तु यह उसका मुख्य उद्देश्य नहीं हो सकता, क्योंकि पक्षियों जैसे कुछ प्राणियों में स्वेदन बिलकुल नहीं होता।

कठिन परिश्रम का प्रमाण—स्वेद में पानी के अतिरिक्त अल्प मात्रा में वसा, वाष्पशील वसा-अम्ल, लेशमात्र एल्ब्यूमिन (Albumin), क्षेप्य पदार्थ यूरिया (Urea), तथा सूक्ष्म मात्रा में अकार्बनिक लवण होते हैं। यह भी सुविदित है कि खाये-पीये गये कुछ पदार्थ उसी रूप में स्वेद में आ जाते हैं। अतएव कुछ लोग स्वेदन को रुधिर में एकत्रित कुछ विशेष क्षेप्य पदार्थों अथवा उ ोत्पादों को छानने का साधन भी मानते हैं। यद्यपि इस बात में सत्य का कुछ अंश अवश्य है तथापि यह इस प्रश्न का, कि हम स्वेदन क्यों करते हैं मुख्य उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि स्वेदन में निकले हुए पदार्थों की मात्रा बहुत थोड़ी होती है।

उष्ण मौसम में अथवा परिश्रम करते समय स्वेदन की अधिकता हमारे प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दे देती है। भट्टी में ईधन झोंकने का कार्य करने वालों के पैंतालिस मिनट में साढ़े तीन पिंट तथा सत्तर मिनट में पाँच पिंट तक स्वेद निकलता देखा गया है। यह अविश्वासनीय अवश्य प्रतीत होता है परन्तु हमें स्वेदग्रन्थियों की विलक्षण अधिकता को ध्यान में रखना चाहिए। डा० रोनल्ड कैम्पवैल मैक्फी (Dr. Ronald Campbell Macfie) ने Romance of the Human Body नामक अपनी जोरदार पुस्तक में हमें बताया है कि "स्वेद ग्रंथियों की संख्या लग भग २५ लाख अनुमानित की गयी है जिनसे (हर ग्रंथि एक पेचदार लिपटी नाल है)' बीस से तीस मील लम्बी नली बन सकती है।

ग्रीष्म ऋतु में अथवा कठिन परिश्रम करते समय, शारीरिक तापमान के बहुत अधिक बढ़ जाने की आशंका रहती है और इसका प्रतिकार करने की अनेक स्व-चालित विधियों में से एक विधि स्वेदन की है। जब रुधिर के तापमान के बहुत अधिक बढ़ने की सम्भावना हो जाती है तब स्वेद का वाष्पीकरण उसको कम कर देता है। अधिकतर स्तनधारी पूर्णतः समतापी होते हैं, जिसका वास्तविक अर्थ शब्दार्थ से किंचित् अधिक है। इसका अर्थ है कि ये स्तनधारी दिन-रात, वर्षों तक लगभग स्थिर शारीरिक तापमान बनाये रखते हैं। बहुत अधिक शीत के समय मांस-पेशियों को मस्तिष्क से, अधिक ताप उत्पन्न करने का आदेश प्राप्त हो जाता है। यदि मौसम बहुत गर्म होता है तो स्वेद ग्रन्थियों को अधिक जल निष्कासित करने का आदेश हो जाता है जिससे शारीरिक ताप कम हो जाता है। यही स्वेदन का मुख्य महत्त्व (अभिप्राय) है।

जीवन-रक्षक साधन—इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अधिक गर्मी होने पर अथवा कठिन परिश्रम करने से शारीरिक इंजनों के चक्के गर्म हो जाने पर स्वेदन अधिक क्यों होता है। स्वेदनस्वचालित जीवन-रक्षक साधन है। स्वेद-ग्रंथियों को तंत्रिकाओं द्वारा आदेश पहुँचाये जाते हैं। ये तंत्रिकाएँ रुधिर-वाहिकाओं के साथ अथवा स्वतंत्र रूप से रहती हैं और रीढ़ रज्जु के विशेष केन्द्रों तथा मस्तिष्क से आती हैं। परन्तु एक और प्रश्न यह उठता है कि रीढ़ रज्जु या मेरुशीर्ष के तंत्रिका केन्द्रों को स्वेदन की आवश्यकता का ज्ञान कैसे होता है? इसका उत्तर मुख्यतया यही है कि यह स्व-चालित है क्योंकि अतितप्त अथवा अनुचित रूप में अशुद्ध रुधिर केन्द्रों में से प्रवाहित होते समय स्वयं उनको सन्देश दे देता है। तंत्रिका केन्द्रों के मुख्यालय कोशा[1] गर्म अथवा निःशोषित रुधिर द्वारा उत्तेजित हो जाते हैं और सक्रिय होने में शिथिलता नहीं दिखाते।

पक्षियों में कोई स्वेदन नहीं—आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करनेवाले पाठक के समक्ष समस्या खड़ी हो जाती है कि पक्षी भी स्तनधारियों के समान समतापी होते हैं; उनके शरीर का भी ग्रीष्म एवं शीत ऋतु में दिन-रात एक ही तापमान रहता है; परन्तु पक्षियों में स्वेदन नहीं पाया जाता। उनमें कोई त्वचा-ग्रन्थियां भी नहीं होतीं। इसका समाधान यह है कि दिन की गर्मी में शारीरिक तापमान पर नियंत्रण रखने के लिए स्वेदन के अतिरिक्त अन्य साधन भी होते हैं। प्राणी के शान्त पड़े रहने पर तापमान नहीं बढ़ा करता, पक्षियों का पेड़ों की छाया में चला जाना भी तापमान न बढ़ने देने में सहायक होता है। सम्बद्ध तंत्रिका-केन्द्रों के आदेशानुसार यदि त्वचा की रुधिर-वाहिकाएँ विस्तृत हो जाती हैं तो तल पर अधिक रुधिर वायु के सम्पर्क में आ जाता है और उसको ठंडा होने का अधिक अवसर मिलता है अथवा फिर हम यह भी देखते हैं कि पक्षी तथा स्तनधारी गर्मी में हाँफने लगता है, इसका तात्पर्य यह है कि यह अपनी श्वसन-गति बढ़ा रहा है तथा फेफड़ों में असामान्य रूप से अधिक रुधिर प्रवाहित करता है जहाँ वायु भी तीव्रता से आने जाने लगती है। फेफड़ों की ऊतक में शीघ्रता से आती-जाती वायु के सम्पर्क में आने के लिए जितना ही अधिक रुधिर वहाँ रहेगा उतना ही अधिक वह शीतल हो जायेगा। परन्तु इसके अतिरिक्त पक्षियों में वायु से भरी थैलियों का एक तंत्र होता है जो फेफड़ों से सम्बन्धित रहता है और यद्यपि उनकी भित्ति पर बहुत अधिक रुधिर-वाहिनियाँ नहीं होतीं,

1. G. H. Q. cells

परन्तु फिर भी उनमें कुछ "आन्तरिक स्वेदन" होता है। यह पानी वाष्प के रूप में निकल जाता है जिससे शरीर का तापमान कम हो जाता है।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि यद्यपि बहुत से स्तनधारियों के लिए ग्रीष्म ऋतु में अथवा कठिन परिश्रम करने से होने वाली तापमान की अनिष्टकारक वृद्धि का प्रतिकार करने के लिए स्वेदन बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, तथापि यह अनिवार्य नहीं है। इस लक्ष्य की पूर्ति दूसरे साधनों से भी हो सकती है जैसा कि पक्षियों में हुआ करता है। यही बात कुछ स्तनधारियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है जिनमें स्वेदन होता भी है तो बहुत ही कम। आस्ट्रेलिया के काँटेदार ऐंट ईटर (ant eater) में स्वेद-ग्रंथियाँ नही होतीं। यह तथ्य ध्यान देने योग्य तथा रोचक है क्योंकि यह अण्डे तो देता है पर बहुत ही अल्पविकसित स्तनधारी है और अंशत: ही समतापी है ? इसका शारीरिक ताप असाधारण रूप से परिवर्तित होता रहता है और सम्भवत: यह कहा जा सकता है कि यदि यह स्वेदन कर पाता तो अधिक सुख का अनुभव करता।

उच्च श्रेणी के विकसित स्तनधारियों में कुत्ता अपेक्षाकृत बहुत कम स्वेदग्रंथि वाले प्राणी का अच्छा उदाहरण है और इसी कमी के कारण उसका हाँफना अधिक समझ में आता है। वह अपने फेफड़ों में रुधिर को ठंडा करता है। परन्तु इस सुपरिचित दृश्य में कुत्ते की लपलपाती जिह्वा का यह अभिप्राय नहीं है कि कुत्ता अपनी जिह्वा से स्वेदन करता है वरन् जिह्वा के तल पर से थूक के वाष्पीकरण द्वारा निकट के रुधिर का तापमान कम कर लेता है जिसका प्रभाव सम्पूर्ण परिवहन पर बहुत पड़ता है।

ह्वेल, बिल्लियाँ और भेड़ें—अनेकों पुस्तकों में हमें कई स्तनधारियों में स्वेदन की अनुपस्थिति की बात पढ़ने को मिलती है, परन्तु इन कथनों की कड़ी जाँच करनी होगी। हम यह मानने को तैयार हैं कि ह्वेल में स्वेदन नहीं होता परन्तु हमें विश्वास है कि बिल्ली के बारे में यह कहना सही नहीं है। पसीने से तर घोड़ा सभी ने देखा है परन्तु भेड़ भी इस दिशा में पीछे नहीं है। बहुत से प्राणियों में शरीर के किसी विशेष भाग में ही अधिक स्वेदन होता है जैसे कि बन्दरों में हाथ की हथेली व पैरों के तलुओं पर; और मनुष्य में भी इन्हीं अंगों में स्वेदन तीव्रता से होता है और वाष्प बनकर उड़ जाता है।

हमारे ऐसे मित्र जो कहते हैं कि उन्हें स्वेदन (पसीना) नहीं आता, गलत कहते हैं। वे अपनी त्वचा को ठीक दशा में रखते हैं; वे इससे असामान्य तौर पर परीशान

नहीं होते; वे ढीले-ढाले वस्त्र पहिनते हैं जिससे उनका स्वेद बिना उनके जाने ही शरीर से निष्कासित होते ही उड़ जाता है। इसको शरीरक्रियाशास्त्री चेतना-शून्य स्वेदन कहते हैं। ऐसे सुखी लोग वास्तव में अपने प्रथम पूर्वजों को दिये गये दण्ड से बच गये हैं।

शीत-स्वेद—भय तथा आशंका के कारण होने वाला शीत-स्वेद सिद्धान्ततः महत्त्व का है क्योंकि उससे पता चलता है कि मस्तिष्क में होने वाला मानसिक विक्षोभ स्वेद-ग्रंथियों में जाने वाली तंत्रिकाओं को प्रभावित कर सकता है जिससे स्वेद-ग्रंथि असामान्य रूप से क्रियाशील हो जाती है। शरीर में प्रत्येक नामकारी वस्तु का प्रतिकारी भी हुआ करता है और असामान्यता की स्थिति में स्वेद-ग्रंथियों की उपयोगिता का अनुचित प्रयोग कर लेता है। इसी भाँति स्वेद बहुत अधिक या बहुत कम हो जाता है और इन दोनों से भी बुरी बात है विशेषकर जीवन में बहुधा घुसे रहनेवाले अणुजीवों का हानिकारक प्रभाव होने लगना स्वास्थ्य के लिए उत्सुक मनुष्य के लिए सब से महत्त्वपूर्ण तथ्य जो हम पहले भी बता चुके हैं यह है कि मनुष्य के भीतर २० या ३० मील लम्बी त्वचा-नाले हैं और यह आवश्यक है कि वे सदा खुली और अच्छी स्थिति में रखी जायें। हम उन जातियों के सम्बन्ध में भी पढ़ चुके हैं जिनके यहाँ स्वेद-गृह होते हैं। ये आधे मन्दिर तथा आधे उष्ण वायु-स्नानगृह (Turkish bath) होते हैं और ये पवित्रता तथा स्वच्छता का पारस्परिक सम्बन्ध मानते हैं। ये स्नानगृह अधितप्त कक्ष होते हैं जहाँ साहसी लोग रात भर उष्णता में स्वेद बहाते हैं तथा प्रभात होने पर हिम शीतल नदी में गोता लगाते हैं। यही सही प्रवृत्ति है।

अध्याय ११

हारमोन

शरीर के विभिन्न अंगों में थोड़ी-सी पारस्परिक स्पर्धा की भावना अवश्य रहती है, परन्तु इससे भी अधिक उनमें पारस्परिक सम्बन्ध बनाये रखने की भावना होती है। वे एक दूसरे के सहयोग से कार्य करते प्रतीत होते हैं, जैसे कि वे, सेंट पाल के शब्दों में, "उभयनिष्ठ लक्ष्य" रखते हैं। यह अनुरूप एकीकरण अधिकतर तंत्रिका-तंत्र के कारण होता है जिसका एक महान् तंत्रिका-विशेषज्ञ के अनुसार "सकलनात्मक प्रकार्य" है। बाहरी अंगों की आवश्यकता केन्द्रीय शासन को बतला दी जाती है और वह उनकी पूर्ति स्वतः-प्रेरित रूप से, जिसे प्रतिवर्त्ती रूप भी कहते हैं, कर सकता है। और भी अधिक दूरस्थ भाग अथवा दुर्गम झिर्रियाँ केन्द्रीय शासन के प्रयोजनों तथा भावनाओं के अनुरूप तत्पर रखे जा सकते अथवा लय में लाये जा सकते हैं। इसे "हर जरूरत के लिए तत्पर कलाविद्" की उपमा देना सही ही है। पारस्परिक सम्बन्ध बनाये रखने का दूसरा साधन रुधिर है जो प्रत्येक अंग को भोजन देने वाला सामान्य माध्यम है, जिसको प्रत्येक भाग कुछ दत्तांश प्रदान भी करता है। रुधिर दो पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने वाला साधन माना ही जाता था परन्तु इधर लगभग पिछले तीस वर्षों से निःस्रोत ग्रन्थि या "आन्तरिक स्राव की इन्द्रियों" के कार्य की महत्ता का श्रेय भी इसमें जुड़ गया है। क्लौड बर्नार्ड (Claude Bernard) तथा अन्य लोगों की प्रारम्भिक खोजों के बाद, इस बात को स्पष्टतया दर्शाने का श्रेय ब्राउन सेक्वार्ड (Brown Sequard) को है कि रुधिर में विशेष अंगों से विशिष्ट उदासर्ग आ सकते हैं; जो समस्त शरीर में वितरित होकर विशेषकर कुछ अंगों पर बहुत ही प्रभावशील परिणाम दिखाते हैं। प्रदीपक अर्थवाले 'हारमोन' शब्द को प्रथम बार डब्ल्यू० बी० हार्डी (W. B. Hardy) ने प्रोफेसर बेलिस (Bayliss) तथा स्टार्लिंग (Starling) द्वारा १९०२ में किये गये उदासर्ग सम्बन्धी अनुसंधान के विषय में प्रयुक्त किया था। यह 'सेक्रेटिन' पदार्थ क्षुद्रांत के प्रारम्भिक भाग का अन्तःस्तरण करने वाली कोशिकाओं से अम्ल की

उपस्थिति में उत्पन्न होता है; यह रुधिर की धारा के साथ अग्न्याशय (pancreas) में पहुँच कर उसे आहार नाल में उड़ेले जाने वाले बहुत ही महत्त्वपूर्ण पाचन रस का उदासर्जन करने के लिए उत्तेजित कर देता है। अतएव जब भोजन पाचन के लिए पहुँचता है या जब शीघ्र ही उसके पहुँचने की आज्ञा होती है, तभी 'सेक्रेटिन' उत्तेजक के द्वारा उसके पाचन की पूर्ण तैयारी हो जाती है। इससे शरीर के अंगों में कायिकी समवाय अथवा सह-सम्बन्ध का वास्तविक अर्थ स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षुद्रान्त्र का प्रारम्भिक भाग तथा अग्न्याशय पारस्परिक सहयोग से कार्य करते हैं। यद्यपि हारमोन शब्द का अर्थ प्रदीपक अथवा उकसाने वाला होता है, तथापि इसके "रासायनिक संदेशवाहक" होने की बृहद् धारणा प्रारम्भ से ही इसके साथ जुड़ी हुई थी; सर एडवर्ड शेफर (Sir Edward Schäfer) ने कहा भी है कि यदि इसको देवदूत समझ कर "Hormone" के स्थान पर "Hermone" नाम[1] दिया जाता तो अधिक अच्छा होता। परन्तु यह बात समय निकल जाने पर सूझी। यद्यपि कुछ ऐसे हारमोन भी हैं जो उत्तेजक नहीं, निरोधक होते हैं, पर यही शब्द चल पड़ा है। प्रोफेसर स्वेल विन्सेन्ट (Professor Swale Vincent) ने आन्तरिक उदासर्जन की जिसके द्वारा निस्रोत ग्रन्थियाँ तथा विशिष्ट ऊतक हारमोन उत्पन्न करते हैं, इस प्रकार सुविधाजनक व्याख्या की है—"इस प्रक्रिया में दैहिक उपयोगिता की कुछ विशिष्ट वस्तुएँ, (जिनके लिए मूल सामग्री परिवहनीय रुधिर से प्राप्त होती है) ग्रंथिमय कोशिकाओं से उत्पादित तथा निष्कासित की जाती हैं; ये निकली हुई वस्तुएँ खुले तल पर निष्कासित न की जाकर रुधिर की धारा में छोड़ दी जाती हैं।" यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि हारमोन के प्रकार्य सम्बन्धी अन्वेषण ने दैहिक शास्त्र की धारणाओं को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया है तथा जीवन के जैविक नियंत्रण में अकथनीय सहायता की है।

यह सम्भव है कि पौधों में भी हारमोन के समान संदेशवाहक उपस्थित हों, जिनके द्वारा दो दूरस्थ भाग एक दूसरे को प्रभावित कर सकते हों, और यह भी सम्भव है कि भविष्य में अनुसन्धानों द्वारा (जो अभी प्रारम्भ किये गये हैं) रीढ़रहित प्राणियों में भी हारमोन का महत्त्व प्रमाणित हो जावे जिसके बारे में अभी हमें कुछ संकेत भर मिले हैं। वास्तविकता यह है कि हारमोन का शारीरिक आन्तरिक-मितव्ययिता में महत्त्वपूर्ण योग है, केवल रीढ़धारी प्राणियों के सम्बन्ध में ही ज्ञात

1 ग्रीक Hermes—देवदूत।

है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना होगा कि रीढ़धारी प्राणियों में रुधिर का अपना ऐसा महत्त्व होता है जिसका प्राणी-जगत् के निम्नवर्ग में अभाव पाया जाता है। शरीर क्रियाशक्तियों को गलग्रन्थि,[1] परावटुग्रन्थि,[2] अधि-वृक्क ग्रन्थि,[3] विभूषिका पिण्ड,[4] पाचक तंत्र के कुछ भाग की श्लेष्म झिल्ली, अग्नाशय की कुछ ऊतक तथा जननेन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले हारमोन के सम्बन्ध में ही निश्चयपूर्वक कुछ ज्ञान हैं। इस सूची से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हारमोन शरीर के विभिन्न प्रकार के अंगों में उत्पन्न होते हैं, तथा इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके गुण भी बहुत भिन्न होंगे। (१) हमारे स्वर-यंत्र के दोनों ओर स्थित गल-ग्रन्थि की सक्रियता में कमी के परिणाम स्वरूप शारीरिक विकास रुक जाता है, जड़वामनता तथा गलगण्ड आदि रोग हो जाते हैं। आधुनिक काल के इस चमत्कार से सभी परिचित हैं कि भेड़ की गलग्रन्थि के निस्सार का इन्जेक्शन देने से ये असा-मान्य अवस्थाएँ दूर की जा सकती हैं। गल-ग्रंथि की अधिक सक्रियता से नेत्रोत्सेधी-गलगण्ड[5] तथा अन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि हारमोन की अधिकता भी उतनी ही हानिकारक हैं जितनी कि उसकी कमी। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि गलगण्ड के हारमोन विशेषकर संयोजिनी तथा तंत्रिका ऊतक के आहार पोषण को प्रभावित कर शरीर के उपापचय को व्यवस्थित रखते हैं। ये तंत्रिका-कोशिकाओं की सक्रियता को आवश्यक स्तर पर रखने के लिए सचेष्ट रहते है। (२) गल-ग्रन्थि के साथ संवलित छोटी परावटु ग्रन्थि के सम्बन्ध में यह निस्संशय कहा जा सकता है, यद्यपि उनका हारमोन शुद्ध रूप में पृथक् नहीं किया जा सका है, कि उनका कार्य तंत्रिका-कोशिकाओं की उत्तेजना को नियंत्रित रखना है। दूसरे शब्दों में सर एडवर्ड शेफर की भाषा में उनके आन्तरिक उदासर्ग 'हारमोन' न होकर "कैलोन" हैं। परन्तु प्रोफेसर स्टार्लिंग की परिभाषा में ये दोनों ही प्रकार्य आ जाते हैं। "हारमोन शब्द का अभिप्राय मैं शरीर के किसी भी भाग की कोशाओं से सामा-न्यतः उत्पन्न होने वाली उस वस्तु से लेता हूँ जो सम्पूर्ण शरीर के लाभ के लिए रुधिर के साथ अन्य दूरस्थ भागों तक पहुँचकर उनको प्रभावित करें।" (३) अधि-वृक्क पिण्ड के मज्जक भाग (प्रत्येक वृक्क के सामने की ओर स्थित) द्वारा उत्पन्न एड्रिनलिन बहुत ही शक्तिशाली हारमोन है जिसका उदासर्जन प्रबल

1 Thyroid gland 2 Para thyroids 3 Suprarenal bodies 4 Pituitary body 5 Exophthalmic goitre

मानसिक आवेशों, भय अथवा रोष से बढ़ जाता है। यह रुधिर दाब को शीघ्रता से बढ़ाता तथा रुधिर के वितरण और श्वसन-गति को प्रभावित करता है; यह कंकाल पेशियों की उत्तेजनशीलता तथा थकावट सहन करने की शक्ति को, तथा रुधिर में शर्करा के परिमाण एवं उसकी आतंचन शक्ति (जमने के गुण) को भी बढ़ा देता है। यह सहज बोधगम्य है कि रोष की भावना एड्रिनलिन के प्रवाह को उत्तेजित कर शरीर को कुछ विस्तृत तथा प्रभाव कर दैहिक रीति से लड़ने के लिए तत्पर कर देती है। इसी भाँति शरीर के रोम को खड़ी करने वाली छोटी पेशियों के संकोचन में एड्रिनलिन का उपयोगी प्रभाव, कुत्ते का सामना करने के लिए बिल्ली द्वारा, अपना आकार बढ़ाकर तत्पर होने के सुपरिचित उदाहरण में दिखता है। एड्रिनलिन के सम्बन्ध मे विशेष अभिरुचि इस कारण भी है कि वही एक वास्तविक हारमोन है जिसको कृत्रिम रूप से उत्पन्न कर लिया गया है; परन्तु इस पदार्थ की जटिलता इसके रासायनिक नाम Ortho Dioxyphenol-ethanol-methylamine से स्पष्ट हो जाती है जिससे इसका भी आभास मिलता है कि प्रयोग-शाला में अथवा जीवित कोशिका में इसका संश्लेषण करने में कितना परिश्रम पड़ता होगा। (४) हेज़लनट (Hazel-nut) के समान छोटे आकार के सुरक्षित अस्थि-प्याले में मस्तिष्क को आन्तरिक सतह से अक्षेपित पियूषिका पिण्ड की अधिक क्रियाशीलता के परिणाम-स्वरूप लोग अस्वस्थ होकर भीमकाय हो जाते है तथा आवश्यकता से कम क्रिया-शीलता लोगों को नाड़ी की गति मन्द तथा ऊर्जा को क्षीण कर देती है। वैसे कुछ लोग प्राकृतिक अपवादों अथवा उत्परिवर्तन द्वारा भी स्वस्थ होते हुए भी भीमकाय या बौने हो जाते हैं। उन्हें इन चरम उदाहरणों से अलग मानना चाहिए। विकास को व्यवस्थित रखने के अतिरिक्त पीयूषिका पिण्ड (विशेषकर इसकी पश्चपालि) शर्करावर्गीय पदार्थो को संगृहीत करने तथा उपयोग के लिए तत्पर रखने का कार्य भी करती हैं। यहाँ हमने हारमोन के विभिन्न प्रकार के प्रकार्यों का निदर्शन करने के लिए कई उदाहरण दे दिये है और यदि हम आहार-नाल की भित्ति के कुछ भागों से निकले हुए, शर्करावर्गीय उपापचय से सम्बन्धित अग्न्याशय में स्थित छोटे द्वीपों से उत्पन्न, तथा गौण लैंगिक लक्षणों के विकास अथवा विकास न होने तथा माता को बच्चे के उत्पन्न होने के पहले और उसके पश्चात् पालन करने के लिए तत्पर करने से सम्बन्धित जननेन्द्रिय से उदासर्जन होने वाले हारमोनों के सम्बन्ध में भी विचार लें तो हमें उनके सम्बन्ध में अधिक ज्ञान हो जायेगा। स्थिति की जटिलता इस तथ्य द्वारा बढ़ जाती है कि आन्तरिक स्राव वाली एक इन्द्रिय एक से अधिक प्रकार के

हारमोन उत्पन्न करती है तथा ग्रन्थियों में पारस्परिक आन्तरिक सम्वन्ध भी हो सकता है जिससे वे एक दूसरे के सहायक अथवा प्रतिकारक हो सकते हैं। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर देना दुष्कर है कि हारमोनों का सामान्य लक्षण क्या है ? उनकी रासायनिक संरचना बहुत भिन्न होती है; उनके अपने विशिष्ट प्रभाव होते हैं यद्यपि शारीरिक विकास से सम्बन्धित प्रभावों के अतिरिक्त उनके प्रभाव तव तक स्थायी नहीं होते जब तक कि हारमोन अधिक मात्रा में उत्पन्न न होते रहे। वे किण्व नहीं हैं, फिर भी उनकी अति सूक्ष्म मात्रा भी प्रभावकारी होती है। सम्भवत: उनका सामान्य लक्षण यह नकारात्मक गुण है कि वे सभी रुधिर में प्रविष्ट किये जाने पर अन्य बहुत-से पदार्थों की भाँति प्रतिकाय तथा प्रतिविधानक नहीं उत्पन्न करते हैं।

विकासवादियों के लिए हारमोनों से सम्बन्धित बहुत-सी बातें रुचिकर हैं। (अ) एक जाति के प्राणी की दूसरी जाति के प्राणियों से कभी-कभी जीवन-वक्र की विभिन्न अवस्थाओं की अवधि भिन्न होती है; एक में वृद्धावस्था की अवधि लम्बी होती है जब कि दूसरे में तरुण काल (बालपन) की; प्रोफेसर आर्थर डेंडी (Professor Arthur Dandy) के कथनानुसार हम देख सकते हैं कि किस प्रकार जीवन को विभिन्न अवस्थाओं में निस्स्रोत-ग्रन्थियों की सक्रियता में होने वाले परिवर्तनों के कारण, अनेक युगों के पश्चात् यह स्थिरता आती है। (ब) यह बतलाया जा चुका है कि पहाड़ पर चढ़ने से अथवा नाचने के कारण पैर की मांस-पेशियों में उत्पन्न दृढ़ता भुजा की मांस-पेशियों को भी दृढ़ बनाने में सहायक होती हैं। सम्भवत: इसका कारण यह हो सकता है कि मांस-पेशियों के पदार्थ में दृढ़ता उत्पन्न करनेवाला कोई पदार्थ रुधिर द्वारा सम्पूर्ण शरीर में वितरित हो जाता है और मिस्टर जे० टी० कनिंघम (J. T. Cunningham) आदि के सुझाव के अनुसार इससे यह संभावना प्रस्तुत होती है कि प्रकार्य तथा वातावरण की विशिष्टताओं के कारण होनवाले व्यक्तिगत परिवर्तनों के काल में उत्पन्न विशिष्ट हारमोन, प्रजनन तत्त्व को प्रभावित कर कोई नया गुण पैदा कर सकते हैं, जिससे उत्तरवर्ती संतति भी प्रभावित होकर उन्हीं गुणों से युक्त होगी। (स) हारमोन के विकास के सम्बन्ध में हमें बहुत अधिक ज्ञान नहीं है, परन्तु हमें शरीर को सहजीवी अंगों, कोशिकाओं तथा ऊतकों की एक संहति समझना चाहिए। इसमें उत्पाद का लगातार समुच्चयन होता रहता है तथा निस्संशय रूप से शरीर की अनुरूपता एवं स्थिरता के लिए हानिकारक तत्त्वों का अनेक युगों से निरसन होता रहा है। इसकी सम्भावना है कि हारमोन में से कुछ नित्य के उपापचयन के अन्तसृष्ट अथवा उपसृष्ट

हो जिसका पूर्वकाल में इतना गम्भीर महत्त्व नहीं था तथा यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि कुछ हारमोन गलग्रन्थि और पीयूषिका जैसे अंगों से उत्पन्न होते हैं जो अपनी प्राथमिक उपयोगिता से फिर गये हैं। जैसा कि प्रोफेसर स्टार्लिंग ने कहा है, इसकी संभावना है कि ये अन्तसृष्ट अथवा उपसृष्ट हारमोन किसी अन्तर्निहित गुण के कारण विकास की गति में अवधारित नहीं हुए हैं, वरन् इस कारण कि कुछ अन्य अवयव उनके प्रभावों के प्रति एड़ अथवा लगाम की भाँति विशिष्ट रूप से संवेदनशील होते हैं।

अध्याय १२

जीवन-रूपी गृह के पत्थर तथा गारा

यद्यपि अरस्तू से लेकर आगे तक शरीर-शास्त्र में नयी खोजें करनेवाले बहुत से लोग हुए हैं तथापि पुराने प्रकृति-वैज्ञानिकों ने प्राणों के विभिन्न अंगों के अध्ययन की अपेक्षा सम्पूर्ण प्राणी का ही अध्ययन अधिक किया है। धीरे-धीरे क्रमशः हृदय, फेफड़े, मस्तिष्क तथा यकृत (जिगर) जैसे विभिन्न अंगों के अध्ययन का विज्ञान भी उदित हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पेशीय और तंत्रिका, संबंधी, ग्रंथीय और कंकालीय आदि-जैसे ऊतकों का अध्ययन आरम्भ हुआ। सूक्ष्मदर्शक यंत्र में सुधार होने पर इसका गहन विश्लेषण सम्भव हुआ तथा इकाई-तत्त्वों अथवा कोशिकाओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया और अन्त में जीवद्रव्य के बारे में, जिसको हक्सले ने जीवन का भौतिक आधार बताया है, हम खोज के गहनतम स्तर तक पहुँच गये हैं।

शरीर का विश्लेषण—यदि हम शरीर की तुलना किसी नगर से करें, तो हमें बाह्य रूपरेखा से आरम्भ करना होगा। वह गोल है अथवा वर्गाकार, अर्धचन्द्राकार है अथवा अनियमित आकार का? इसके पश्चात् हम नगर के विभिन्न क्षेत्रों पर अर्थात् विभिन्न भागों पर ध्यान देंगे—कि वे नागरिक महत्व के हैं या औद्योगिक, शैक्षणिक हैं अथवा सुरक्षात्मक? इनका अध्ययन इन्द्रियों के अध्ययन के समान है। परन्तु बहुत-से प्राचीन नगरों में एक ही प्रकार की दूकानों के विभिन्न बाजार होते हैं और इनकी तुलना ऊतक से कर सकते हैं। परन्तु इनमें स्थित प्रत्येक दुकान तथा घर विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं के समान है। अन्त में जीवित पदार्थ की मौलिक इकाइयों की तुलना नगरवासियों से की जा सकती है। यदि इस तुलना को आगे बढ़ाने में हमें विरोध न हो तो जीव-विज्ञान के अध्ययन की सजीव प्राणियों, इन्द्रियों, ऊतकों कोशिकाओं तथा जीव-द्रव्यों से सम्बन्धित शरीर-रचना तथा शरीर-क्रिया शास्त्र की विभिन्न दिशाओं का हमें स्पष्ट ज्ञान हो जायेगा। इस सम्बन्ध में गहन तार्किक विश्लेषण हुआ है, परन्तु इन पात्रों के सम्बन्ध में अभी खोज आगे चल रही है और चलना आवश्यक भी है।

कोशिका-सिद्धान्त—सन् १८३८ में प्रथम बार कोशिका-सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। उस समय तक यह सिद्धान्त न होकर केवल एक विचार (मत) था क्योंकि इससे केवल यह अनुमान प्रकट होता था कि समस्त जीवित प्राणी कोशिकाओं अथवा इनके संपरिवर्तनों से बनते हैं, केवल साधारण एककोशिक प्राणी ही इसके अपवाद हैं। यह सिद्धान्त जीव-विज्ञान की नींव के पत्थरों में से एक है।

इससे ये उपसिद्धान्त निकले कि (अ) स्पंज से लेकर मनुष्य तक, सी–राक (Sea wrack) से लेकर लेबेनान के देवदार तक प्रत्येक साधारण बहुकोशिकीय प्राणी, सामान्यतः अपना व्यक्तिगत जीवन एक इकाई कोशिका-संसेचित अण्ड कीशिका से प्रारम्भ करता है जिसके अनेकों बार विभाजित होने से भ्रूण बनता है और यह बढ़कर शरीर का रूप धारण कर लेता है। तथा (ब) बहुकोशिकीय जीव का जीवन किसी सीमा तक संघटक कोशिकाओं के जीवन का योग कहा जा सकता है, जैसे सेना की गति एक प्रकार से व्यक्तिगत सैनिकों की गति का योग है।

कोशिका-सम्बन्धित ज्ञान में परिवर्तन—सूक्ष्मदर्शी यंत्र से होनेवाले अनुसंधान में हुई प्रगति से हमारी कोशिका ज्ञानगाथा में, आरम्भ से अब तक.रुचिकर परिवर्तन हो गये हैं जो विचारणीय हैं। सबसे पहला परिवर्तन यह है कि कोशिका के सम्बन्ध में सामान्य विचार बहुत ही सूक्ष्म हो गये हैं तथा कुछ अर्थो में अधिक दुर्भेद्य भी। पुरानी धारणा के अनुसार कोशिका केन्द्रक से नियंत्रित होनेवाली जीवित तत्त्व की इकाई कणिका अथवा इकाई क्षेत्र थी। परन्तु यह धारणा तथ्यों के विपरीत है। बहुत-सी कोशिकाएँ जीवित सेतुओं द्वारा अपने पड़ोसियों से जुड़ी रहती हैं; बहुत-सी कोशिकाओं की कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं होती; हमारी लाल कणिका जैसी बहुत-सी कोशिकाओं का पूर्ण विकास हो जाने पर भी केन्द्रक नहीं दृष्टिगोचर होता। उसके स्थान पर अधिक से अधिक प्रसारित केन्द्रकीय धूल होती है। हमें अपने यौवनकाल में ज्ञात हुआ था कि प्रोटोज़ोआ एक-कोशिकीय होते हैं, परन्तु वास्तव में उनमें से बहुत-से तो सूक्ष्म विवेचना के जटिल अणुवीक्षणात्मक गट्ठे हैं और हम निश्चयपूर्वक अनुभव करते हैं कि आधुनिक प्रोटिस्टौलोजी (Protistology) के एक नेता प्रोफेसर क्लिफोर्ड डोबेल (Prof. Clifford Dobell) प्रोटोज़ोआ को कोशिकाहीन प्राणी मानने पर ज़ोर देने में उचित पथ पर हैं और जो समस्त बहुकोशिकीय प्राणियों के विकास से भिन्न विकास के सम्बन्ध में एक नयी धारणा है। हमने यह भी पढ़ा था कि अण्ड-कोशिका इकाई कोशिका होती हैं, परन्तु किसी अर्थ में सत्य होते हुए भी यह भ्रांतिजनक है क्योंकि अण्डकोशिका हमारी कल्पना से

अधिक जटिल है; यह अनेक युगों की उत्तराधिकारी है; यह अव्यक्त जीव है ; यह जटिल (दुर्बोध) उत्तराधिकारी है; यह ऐसा प्राणी है जिसे ऐसी अवस्था में निप्रवेशित कर दिया गया है जिसके समझने में हमें कठिनाई होती है ।

मण्डल की धारणा—हमारी धारणाओं में आजकल दूसरा परिवर्तन यह हुआ है कि अब हम बहुकोशिकीय सजीव को कोशिकाओं का एक मण्डल अथवा दल नहीं मानते । कदाचित् यह धारणा बहुत आधुनिक नहीं है क्योंकि बहुत वर्षों पूर्व महान् वनस्पति विशेषज्ञ डी बारी (De Bary) ने लिखा था—"ऐसा नहीं है कि कोशिकाएँ पौधा बनाती हैं वरन् पौधा कोशिकाएँ बनाता है ।" पिछले कुछ वर्षो में यह बात स्पष्ट हो गयी है कि कोशिकीय रचना, जीवन-प्रक्रियाओं की गूढ़ता के कारण आवश्यक हो गयी। श्रम-विभाजन के कार्य को भली प्रकार करने की एक युक्ति है । मण्डल की धारणा में भी कुछ सत्य अवश्य है, क्योंकि उदाहरण के लिए हम यह स्मरण कर सकते है कि सूत्र कृमि (thread worms) तथा कुछ समुद्रीय छोटे जीवों (Lancelets) को छोड़कर, स्पंज से लेकर मनुष्य तक समस्त बहु-कोशिकीय प्राणियों में अमीबीय कोशिकाओं (फैगोसाइट्स) के रूप में घूमनेवाले शरीर-रक्षक होते हैं जो तीव्रता से शरीर के एक भाग से दूसरे भाग तक जाते रहते है और कभी सैप्पर्ज़ और माइनर्ज़ (Sappers and miners) रूप में या पुन-र्निर्माण करनेवाले के रूप में, अथवा कभी अनधिकार प्रवेश करनेवाले अणु जीवों का भक्षण करनेवालों के रूप में कार्य करते हैं । शरीर की कोशिकाओंके अन्य बहुत-से उदाहरण भी हैं जिन्हें कुछ स्वतन्त्रता या स्वायत्तता प्राप्त रहती है । कुछ व्याधिकृत प्रवर्धों में कुछ कोशिकाएँ अवश्य नियम-प्रतिकूल हो जाती हैं तथा जिस सजीव-प्राणी के वे अंग है उसके ही विनाश के लिए कार्य करने लगती हैं । परन्तु फिर भी हमें मण्डल की पुरानी धारणा में इस नये विचार का समावेश करना होगा कि सजीव प्राणी का विशिष्ट जीवन तत्व व्यावहारिक प्रयोजन के लिए कोशिकाओं में उसी भाँति विभाजित हो जाता है जैसे अकोशिकावान् बनावट के जटिल प्रोटोजोआ के विशिष्ट पदार्थ सूक्ष्म इन्द्रियों या अंगकों में विभाजित रहते हैं ।

कोशिका, एक सूक्ष्म जगत्—एक और परिवर्तन यह हुआ है कि कोशिका की आधुनिक धारणा असाधारणतया जटिल हो गयी है। पहले कोशिका को जीवित तत्त्व की छोटी-सी बूँद जिसके बीच में एक मींगी हो और कभी-कभी चारों ओर साधारण भित्ति से घिरी माना जाता था । अव यह विचार लुप्त हो गया है । हमें अब इसको तमाम विजातीय रासायनिक तत्त्वों के एकीकृत क्षेत्र की भाँति समझना

होगा जिसमें विभिन्न प्रकार के कलिल[1] प्रोटीन पदार्थ अन्य कम संजटिल पदार्थों के साथ, जो जीवित प्राणी के अंशतः संचित अथवा क्षेप्य पदार्थ होते हैं, एक द्रव्य में निलम्बित रहते हैं। इस भँवर के मध्य में जहाज के टूटे भागों की भाँति अपने विभिन्न प्रकार के भाग लिये नाभिक तैरता रहता है जो स्वयं में एक संसार होता है। इसकी झिल्ली (जिसमें से पदार्थ सदा अन्दर तथा बाहर आते-जाते रहते हैं) के अन्दर आसानी से रंग कर पहचान में आ जानेवाले गुण-सूत्र होते हैं जिनकी संख्या प्रत्येक जाति में निश्चित रहती है। इसके अतिरिक्त बहुधा एक अणु-नाभिक, अथवा विभिन्न प्रकार के दो या दो से अधिक अणु-नाभिक होते हैं। कोई अणुनाभिक रंज्या के असदुपकेन्द्रक[2] हो सकते हैं और कोई प्लैस्टिन के सत्केन्द्रिक[3]। ये गुण सूत्र एवं अणुनाभिक जटिल नाभिकीय रस अथवा केन्द्रक रस में डूबे रहते हैं। कोशिका में इनके अतिरिक्त भी अन्य कई वस्तुएँ होती हैं। बहुत-सी कोशिकाओं में नाभिक के बाहर कोशिका-द्रव्य में निश्चित आकार की कणिका (माइटोकौन्ड्रिया[4]) होती हैं जिनका सम्बन्ध विशिष्ट जीव द्रव्य पदार्थों के उत्पादन से प्रतीत होता है। तथा इनके अतिरिक्त गोल्जी काय[5] की वलयक अथवा शलाकाएँ होती हैं जो सर्वदा नहीं तो बहुधा कोशिकाओं का अंग होती हैं। गोल्जी काय के महत्त्व के सम्बन्ध में हमें लगभग कुछ भी ज्ञान नहीं है और यही बात बहुत-सी कोशिकाओं में पायी जाने-वाली क्रोमिडिया के सम्वन्ध में कही जा सकती है। कुछ विशेषज्ञों ने क्रोमिडिया को कोशिका पदार्थ के उपनिवेशन के प्रयत्न में नाभिक से बाहर आयी हुई रंज्या का भाग माना है। हम यह निस्संशय कह सकते हैं कि कोशिका का जीवन मुख्यतः अष्टि (मींगी) और कोशिका-पदार्थ, नाभिक और कोशिका-द्रव्य के पारस्परिक आदान-प्रदान पर निर्भर है। कुछ कोशिकाओं में नाभिक तथा कोशिका-द्रव्य का आयतन-मितीय अनुपात बहुत ही महत्वपूर्ण प्रतीत होता है तथा कुछ कोशिका-विज्ञों ने इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विकृत होने को ही कोशिका के विभाजन का कारण बताया है।

हम छोटे सेन्ट्रोसोमों (centrosomes) को लगभग भुला ही गये जो समस्त कोशिकाओं में तो नहीं, परन्तु बहुत-सी जन्तु-कोशिकाओं में सदा पाये जाते हैं तथा

1. Colloidal 2. "Karyosome" of chromatin
3. "Plasmosome" of plastin
4. Mitochondria 5. Golgi apparatus

उच्च श्रेणी के पौधों में अनुपस्थित प्रतीत होते हैं। इनका कोशिका की इकाई के विभाजन में महत्त्वपूर्ण योग होता है। कोशिका-भाजन होने के समय यदि सेन्ट्रोसोम उपस्थित होता है, तो दो भागों में विभाजित हो जाता है; प्रत्येक विभाजित भाग नाभिक के एक ध्रुव पर पहुँच कर स्थिर हो जाता है तथा बहुत कोमल चमकदार तन्तुओं का, जिनमें से कुछ गुण-सूत्रों से सम्बन्धित रहते हैं, केन्द्र बन जाता है। अधिकांश दशाओं में, इनमें से प्रत्येक गुण-सूत्र बड़ी बारीकी से मध्य में से विभाजित हो जाता है तथा जब दोनों अर्ध भाग विपरीत ध्रुवों की ओर अग्रसर होते हैं तब प्रत्येक अनुजात कोशिका को पैत्रिक इकाई का ठीक आधा भाग प्राप्त हो जाता है।

जनन-कोशिकाएँ—एक और आधुनिक बुनियादी परिवर्तन जनन-कोशिकाओं के कोशिका-विज्ञान से सम्बन्धित है। ऐस प्रतीत होता है कि प्रो० वाइज़मान (Weismann) ने उचित ही गुण-सूत्रों को आनुवंशिक गुणों का मुख्य वाहन माना था यद्यपि कोशिका द्रव्य का (विशेषकर अण्ड-कोशिका का) भी उसमें कुछ हाथ अवश्य है। आधुनिक अन्वेषण की बढ़ती हुई यथार्थता की एक झलक इस तथ्य से मिल सकती है कि कुछ दशाओं में एक संसेचित अण्डे के गुण-सूत्रों की प्रत्यक्ष विशिष्टताओं के आधार पर यह बताना सम्भव है कि भ्रूण नर में विकसित होगा या मादा में। यह तथ्य भी कम महत्त्व का नहीं है कि कुछ दशाओं में गुण-सूत्र का एक प्रकार का मानचित्र बनाकर बहुत अधिक सम्भावना के साथ यह बताया जा सकता है कि एक विशेष गुण का कारक यहाँ स्थित है और दूसरे का वहाँ।

वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक गुण-सूत्र एक पारदर्शी रिबन में पिरोये हुए मणियों के कण्ठहार के समान है, तथा मणि अथवा माइक्रोसोम (microsome) सबसे निम्न श्रेणी की दृष्टिगोचर होनेवाली जैविक इकाइयाँ हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं, सामान्य दशाओं में प्रत्येक कोशिका-भाजन के समय प्रत्येक गुण-सूत्र भी मध्य से विभाजित हो जाता है तथा अगले विभाजन तक अपना व्यक्तित्व बनाये रखता है। परन्तु गुण-सूत्रों का व्यक्तित्व वस्तुतः सेना के दल के एकीभूत व्यक्तित्व की भाँति है, जिसमें वास्तव में अविभाज्य इकाइयाँ मणि अथवा माइक्रोसोम हैं और जिनकी तुलना सैनिकों से की जा सकती है। कोशिका को एक जैविक इकाई मानने की बजाय अब हमें लगता है कि वास्तव में इकाई एक अति सूक्ष्म वस्तु माइक्रोसोम थी। परन्तु यदि हम इस विश्लेषण से हटकर सामान्य बुद्धि का भरोसा करें तो स्वयं प्राणी को ही जैविक इकाई मानना होगा।

कोशिका-संस्था—इस अध्ययन में हमारा उद्देश्य बहुकोशिकीय काय बनानेवाले

रचनात्मक तत्त्वों की आधुनिक विश्लेषणों द्वारा उद्घाटित जटिलता की एक झलक दिखाना रहा है। परन्तु इससे जो-जो चित्र सामने आया वह बहुत गतिहीन है, ये तत्त्व मकान के पत्थर तथा गारे के समान नहीं है, वरन् जीवित हैं। इन में से प्रत्येक एक व्यापारिक संस्था के समान है, कोशिका-द्रव्य, नाभिक, सेण्ट्रोसोम, माइटोकोंड्रिया आदि उस संस्था के सहभागी हैं। संस्था की सफलता विभिन्न सहभोगियों के पारस्परिक अनुरूप सम्बन्ध बनाये रख, सहयोग से कार्य करने पर निर्भर है। प्रत्येक कोशिका प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट-जैसे कलिल पदार्थो की एक भॅवर है। प्रत्येक कोशिका जटिल ऊर्जा रूपान्तरण के लिए संघटित तन्त्र है क्योंकि जीवित पदार्थ ऊर्जा उत्पन्न नहीं कर सकता। प्रत्येक कोशिका एक प्रयोगशाला है जिसमें आक्सीकरण तथा अवकरण, जल-योजन (hydration) (जीव-द्रव्य में ८० प्रतिशत जल होता है) तथा संघनन, संश्लेषण तथा विश्लेषण की प्रक्रिया चलती रहती है। ये रासायनिक प्रतिक्रियाएँ किण्व की सक्रियता के कारण असाधारण गति से होती हैं, परन्तु इनमें असामान्य अवस्था कभी नहीं पायी जाती। जिसका अंशतः कारण या तो कोशिका के बहुत सूक्ष्म विन्यास का विकेन्द्रित प्रभाव है या जिसे कलिलीय उपस्करण कह सकते हैं। इस सबसे यह स्पष्ट है कि हमारी शारीरिक रचना अत्यन्त जटिल तथा आश्चर्यपूर्ण है।

अध्याय १३

मुर्गे (कुक्कुट) तथा मुर्गियां

पालतू कुक्कुट बहुपत्नीक प्राणी है जिसे अपने शिशु-परिवार की चिन्ता तो नहीं होती, परन्तु उसमें भद्रता भी कुछ कम नहीं होती है। कुछ रसदार कीड़ों को खोद कर निकालते समय उसका व्यवहार वास्तव में प्रशंसनीय होता है। वह अपनी प्रियतमा तथा अन्य पत्नियों को भोजनके लिए बुला लेता है, और जिस समय उसकी पत्नियाँ भोजन का आनन्द लेती रहती हैं, वह अपने आप में फूला हुआ चारों ओर के दृश्य को प्रशंसा की दृष्टि से देखता प्रतीत होता है, मानो वह कह रहा हो "तुम जानती हो कि भोजन के समय के बाद कुछ भी खाना मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध है।"

नर तथा मादा कुक्कुट की प्रकृति में बहुत अन्तर होता है। नर कुक्कुट युद्धप्रिय, अति अनुरक्त, साहसी तथा अपने गृहपति पद की गुरुता से अभिज्ञ प्राणी होता है। मादा कुक्कुट शान्त, डरपोक तथा बहुत अधिक मातृवत् होती है। मादा कुक्कुट के पालतू रूप से ही हमें उसके सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए, वरन् भारतवर्ष की पूर्वकालीन जंगली मादा कुक्कुट का भी अध्ययन करना चाहिए। मनुष्य की रक्षा में पालतू बनकर रहने से और अनवरत कृत्रिम वरण करने से जिसमें उसके बहुत अधिक अण्डे उत्पन्न करने तथा मनुष्य के लिए अच्छे भोजन के रूप में माने जाने के अतिरिक्त और किसी गुण पर ध्यान नहीं दिया गया है, उसकी बुद्धिमत्ता में कोई प्रगति नहीं हुई है। जंगली मादा कुक्कुट अपने समस्त जीवन में चालीस से पचास तक अण्डे देती है, परन्तु पालतू मादा कुक्कुट तीन हजार तक अण्डे दे सकती है। वह अण्डे देने का यंत्र बन गयी है, परन्तु उसकी बुद्धिमत्ता में कोई सुधार नहीं हुआ है।

सर्वविदित है कि नर कुक्कुट एवं मादा कुक्कुट में ध्यान देने योग्य चार बाह्य विभिन्नताएँ हैं। कुक्कुट में चापमय पुच्छ पर (पक्ष) प्रचुरता से होते हैं, उसके टखने के नीचे एक पद-कंट होता है; उसकी गर्दन पर ढीले व लम्बे तथा बहुधा बहुत सुन्दर पर (पक्ष) होते हैं और सिर पर एक बड़ी सीधी ऊपर जाती हुई कलँगी

होती है। कुछ प्रकृति-विज्ञ उपयोग तथा अनुपयोग के परिणाम स्वरूप होनेवाले आनुवंशिक परिवर्तनों के लेमार्कियन सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं; यदि यह व्याख्याओं के स्थान पर तथ्यों पर आधारित होता तो आकर्षक सिद्धान्त होता। कुक्कुट के सम्बन्ध में ये प्रकृति-विज्ञ कहते हैं कि पुच्छ परों (पक्षों) के सुन्दर गुच्छे अनेक पीढ़ियों से दुम को इधर-उधर हिलाते रहने के परिणाम हैं। जब एक पक्ष उठाया या शक्तिपूर्वक हिलाया जाता है तब पुच्छ के पक्षों को खचित रखनेवाली त्वचा परिखा अथवा गर्त को व्यायाम करना पड़ता है और यह क्रिया पुच्छ-पक्ष अथवा इसके उत्तराधिकारी की वृद्धि को उकसाती है। हम १० फुट लम्बे पुच्छ-पक्षोंवाले जापानी कुक्कुटों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी चाहते हैं, परन्तु जहाँ तक हमें मालूम हुआ है, जापानियों ने अपने रहस्य को छिपा कर रखा है।

इस सिद्धान्त के अनुसार यह व्याख्या दी गयी है कि कुक्कुट की गर्दन पर बहुत पक्ष होने का कारण कुक्कुट का युद्ध की उत्तेजना में अपने पक्ष खड़ा करने का ढंग है तथा पदकंट अनेक कालों में युद्धग्रस्त कुक्कुटों द्वारा अपने विरोधियों के पैरों व सिर पर किये गये आघातों का परिणाम है। लैमार्क के अनुयायी इस फ्रांसीसी कहावत पर दृढ़तापूर्वक विश्वास करते हैं कि "आघात करते-करते मनुष्य लोहार बन जाता है।" तब तो शायद कलँगी के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह अरोधी भाग को चोंच की मार से सुरक्षित रखने की पक्षी की भावना के कारण उग आयी है। यहाँ हमारा मतलब मादा के चोंच मारने से नहीं है, वरन् दो विरोधी कुक्कुटों में होनेवाले द्वन्द्व युद्ध से है।

व्यक्तिगत रूप से हमें यह विश्वास नहीं है कि प्रकृति इस रूप में कार्य करती है। हम डार्विन के सिद्धान्त को अधिक पसन्द करते हैं, जो नवीन परिवर्तनों को (विभिन्नताएँ तथा उत्परिवर्तन) जनित्र द्रव्य से उत्पन्न हुआ मानता है तथा जिसमें जीवन संग्राम तथा उद्योगों के कारण कुछ काट-छाँट होती रहती है। वे नवीनताएँ जो प्रेम-प्रदर्शन, अथवा जीविकोपार्जन में उपयोगी होती हैं बाद में भी बनी रहती हैं। आनुवंशिक गुण ताश के पत्ते के समान हैं जो सदा फिर से फेंटे जाते है; तथा खिलाड़ी के पास पहुँचनेवाले पत्तों (गुणों) में बहुधा दृढ़ व्यक्तित्व भी रहता है जो लाभदायक अथवा हानिकारक दोनों ही हो सकता है, परन्तु किसी भी दशा में उसे परखना आवश्यक है।

कुक्कुट तथा मादा कुक्कुट, बत्तख तथा नर बत्तख लैंगिक द्विरूपता के सुपरिचित उदाहरण हैं जो प्राणी-जगत् में बहुत व्यापक है तथा पक्षियों में उसके बहुत विलक्षण

उदाहरण मिलते हैं। इसकी तीन श्रेणियाँ है जिन्हें पृथक्-पृथक् जान लेना उपयोगी होगा। प्रथम श्रेणी में नर तथा मादा, दोनों में पाये जानेवाले गुणों का प्रचुर प्रदर्शन करने में नर मादा से भिन्न होता है। तात्पर्य यह है कि जातीय गुण कुक्कुट में उदारता अथवा बहुतायत से तथा मादा कुक्कुट में अधिक संयत रूप अथवा' सादगी से व्यक्त होते हैं। नर कुक्कुट तथा मादा कुक्कुट दोनों में ही कलँगी होती है, परन्तु नर की कलँगी अधिक परिवर्धित होती है। इसी भाँति नर मुरगाबी के माथे पर का मांसल प्रवर्ध मादा में बहुत ही छोटे आकार का पाया जाता है।

यहाँ हमें बहुत सावधानी से काम लेना होगा क्योंकि यहाँ हमारा मतलब एक विशिष्ट गुण के गौण लैंगिक-गुण हो जाने से नहीं, वरन् गौण लैंगिक लक्षण के नर से मादा में प्रसार तथा उसके एक विशिष्ट गुण बन जाने से है। केवल मादा रेनडियर (reindeer) में बारहसिंघे के समान शाखादार सींग होते हैं, अन्य मृगों में सींग केवल नर में ही पाये जाते हैं। यह प्रकरण मादा में एक नर लक्षण के प्रसरण के समान प्रतीत होता है। सम्भवत: मादा की शारीरिक रचना में कुछ अल्प परिवर्तन हो गया है जिससे सामान्यत: गुप्त रहनेवाले ये सींग बाहर आ गये हों। पक्षियों में भी संभवत: इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं; उदाहरणत: कुछ तीतर पक्षियों (पौली-प्लेक्ट्रोन (Polyieplectron) में विभिन्न जाति की मादाएं क्रमिक-रूप में पौरुष-विभव के निकट पहुँची हुई लगती है। उनमें से कुछ के परों पर नेत्र की तरह के चिह्न दिखाई देते है।

दूसरी श्रेणी में उन पक्षियों को रखा जा सकता है जिनमें नर की विशिष्टताएँ गुणात्मक तथा मात्रात्मक दोनों ही होती है; जहाँ गुण की प्रचुरता का ही प्रश्न नहीं होता, वरन् विभिन्न भागों के विस्तृत विवरण में भिन्नता होती है। नर कुक्कुट में कुछ ऐंसे विशेष लक्षण हो सकते हैं, जिनका मादा में संकेत भी नहीं मिलता। हमारा आशय आस्ट्रेलिया की लायर बर्ड (Lyre Bird) के उदाहरण द्वारा ठीक से प्रकट हो सकता है। नर में पुच्छ के सोलह पक्ष होते हैं; बाह्य युग्म वीणा की भाँति वक्र होते हैं तथा उनमें बाहर की ओर बहुत सँकरा तथा अन्दर की ओर बहुत चौड़ा पत्र फलक होता है; आगे के छ: युग्मों में दूर-दूर स्थित पक्ष्मक होते हैं परन्तु आधार की ओर के अतिरिक्त कोई पक्ष्मिका नहीं होती। मध्य के दो पक्षों में केवल अन्दर की ओर सँकरा पत्र फलक होता है तथा वाहर की ओर बिलकुल नहीं होता। वे नीचे की ओर से अन्य परों को पार कर बाहर की ओर आकर स्पष्टत: वक्र हो जाते हैं। इस पुच्छ में हमें आकार तथा रचना की बहुत-सी विशिष्टताएँ मिलती हैं जब कि मादा में लम्बी तथा

चौड़ी सामान्य पुच्छ होती है। मेकरोडिप्टेरिक्स मेकरोडिप्टेरस (Macrodipteryx macrodipterus), अफ्रीकी नाइट जार (Night jar) में दोनों ओर के पक्षों का नवाँ प्राथमिक पर दो फुट लम्बा हो जाता है जो पक्षी के शरीर की लम्बाई से दुगुनी लम्बाई है। सिर के सिवाय जहाँ रैकिट के समान एक विस्तृत आकार होता है इन दोनों पक्षों के गात्र[1] नग्न होते हैं। मादा में इस विशिष्टता का कोई आभास नहीं मिलता। जब नर पक्षी नरकुल तथा घास में बैठता है, तब दोनों लम्बे पक्ष शरीर के ऊपर सीधे खड़े हो जाते हैं। कुछ पक्षियों, जैसे बर्ड आफ पैरेडाइज़ (Bird of Paradise) में नर की पुच्छ के दो पक्षों का लम्बा हो जाना सामान्य लक्षण है। पंखों की बजाय पुच्छ में पक्षों की अधिकता का होना अधिक अनुज्ञेय है, क्योंकि उड़ने में पक्षों के कारण बाधा नहीं होनी चाहिए। यह कहा जाता है कि कुछ नर बर्ड आफ पैरेडाइज़ सादे रंग की मादा के समक्ष अपने को प्रदर्शित करते समय सुनहले झरने के समान दिखाई देते हैं। आदिवासी लोग इसे शाखाओं के मध्य चलनेवाली नृत्य-गोष्ठी कहते हैं।

तीसरी श्रेणी के पक्षियों में नर कुक्कुट में कुछ लक्षण ऐसे होते हैं जो मादा कुक्कुट में कदापि नहीं मिलते। पालतू कुक्कुट में टखने के नीचे जो पदकंट होता है वह सामान्य मादा कुक्कुट में अनुपस्थित होता है। हमें सामान्य शब्द पर अधिक बल देना है क्योंकि जिन मादा कुक्कुटों के अंडाशय में कुछ विकार उत्पन्न हो जाता है, या जो वृद्ध हो जाती हैं अथवा जिन पर कोई शल्य-क्रिया हो जाती है, उनमें पदकंट का विकास हो सकता है अथवा वे कुक्कुट की भाँति बाँग भी देने लगती हैं। इसी भाँति एक बधिया कुक्कुट अण्डे को सेकर उनसे बच्चे निकालता हुआ पाया गया है जो साधारण कुक्कुट की प्रकृति के विरुद्ध है।

स्काटलैंड में आ जानेवाले विरल पक्षी ग्रेट बस्टर्ड (Great Bustard) के युवा नर में एक असामान्य वक्षीय थैला होता है जो जिह्वा के नीचे खुलता है तथा गर्दन तक अन्दर चला जाता है। जब पक्षी उत्तेजित होकर प्रेमाराधना करता है तब वह इस थैले को फुला लेता है। इससे समस्त गले पर एक अस्वाभाविक सूजन भी आ जाती है। मादा तथा शिशु नर में इस थैले का कोई आभास नहीं मिलता।

हमें एक बिलकुल भिन्न उदाहरण विलुप्त रौड्रीग्वेज़ की सौलीटैर (Solitaire of Rodriguez) पर भी विचार करना चाहिए। यह एक बड़ा पक्षी था—नर तो

1. Shafts

बत्तख के बराबर बड़ा होता था, तथा मादा छोटी होती थी। इसका सम्बन्ध कबूतरों से प्रतीत होता था। नर बहुत युद्धप्रिय थे तथा उनकी असामान्य विशिष्टता अग्र बाहु की छोटी बहिःप्रकोष्ठिका के सिरे एवं कलाई पर अखरोट के बरावर दो बड़े अस्थि-अपवृद्धि का विकास थी। यद्यपि वे व्याधिकीय अस्थि-अपवृद्धि के समान दिखाई देते थे, परन्तु लड़ने में बहुत उपयोगी थे तथा मादा में पूर्णतः अनुपस्थित थे। उनकी फॉसिल अस्थियाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं अतः हम उनके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकते हैं।

संभावना यह है कि ये सब केवल पुरुषोचित विशेषताएँ नर पक्षी में विकसित होन के लिए पूर्व निर्धारित जीवाणुओं की भ्रूणीय विभिन्नताओं या उत्परिवर्तन द्वारा उत्पन्न हुई हों तथा वास्तव में ये पुरुषोचित प्रकृति के सदृश अथवा उसके ही अनुरूप हैं। वे उन बीजों के समान हैं जिनका अंकुरण केवल पुरुष भूमि में ही हो सकता है। वे मादा में गुप्त रहते हैं, व्यक्त नहीं होते। ये लिंग-सहलग्नी लक्षण कहे जा सकते हैं तथा हाल ही में किये गये परीक्षणों से यह भी प्रकट हुआ है कि नर में ये जननेन्द्रिय से आनेवाले हारमोन द्वारा सक्रिय हो जाते हैं तथा मादा में ये अण्डाशय से आनेवाले किसी अन्य प्रकार के हारमोन द्वारा निरोधित कर दिये जाते हैं। यदि किसी मादा बत्तख का अण्डाशय शल्य-क्रिया द्वारा निकाल दिया जाये तो उसके नर बत्तख की भाँति पक्ष पूर्णरूप से उत्पन्न हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि नर बत्तख के पक्ष बढाने का गुण मादा बत्तख में सामान्यतः गुप्त रहता है।

बत्तख जाति के अनेक नर पक्षियों में से केवल ड्रेक (Drake) बत्तख में ध्वनि-पेटी अथवा सिरिंक्स (Syrinx) से सम्बन्धित एक बड़ी प्रतिध्वनित होनेवाली कुप्पी के परिवर्धन होने की विशिष्टता होती है। यह पुरुषोचित लक्षण है; परन्तु एक प्रकार की विज्यन (Wigeon) बत्तख, आस्ट्रेलिया में पायी जानेवाली मरेका पंकरेटा (Marecca punctata) में मादा में भी ध्वनि-पेटी का बढ़ना प्रारम्भ हो गया है। यह पुरुषोचित गुणों का मादाओं में विस्तार होने का प्रथम चरण प्रतीत होता है।

मानसिक एवं कायिकी बंधनों को जोड़कर जनन में अधिक सफलता प्राप्त करने तथा विवाह-हेतु प्रेमाराधना को अधिक चतुरतापूर्ण बनाने के अतिरिक्त इस सारी द्विरूपता का क्या महत्त्व हो सकता है ? यह आवश्यक नहीं है कि मादा अपने प्रेमी के चुनाव में उसके व्यवहार और व्यक्तित्व में हुए सुधार के प्रत्येक छोटे-छोटे विवरण की ओर ध्यान देती हो। संभावना यही है कि प्रेमी का सम्पूर्ण रूप ही प्रथमतः उसकी

रुचि तथा बाद में उत्तेजना जाग्रत कर दे। यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्येक गुण को तुलनात्मक दृष्टि से देखे क्योंकि सभी दशाओं में केवल वे ही नर सफल हो सकेंगे जिनकी शारीरिक रचना में पौरुष की नैसर्गिक प्रवृत्ति अधिक होगी और शृंगार की प्रचुरता प्रधानतया यही प्रकट करने के लिए होती है।

अध्याय १४

वैयक्तिकता एवं विशिष्टता

वैयक्तिकता जीवन के बहुत बड़े तथ्यों में से है। प्रत्येक जीवित प्राणी दूसरे से भिन्न होता है। फिटकरी का एक मणिभ फिटकरी के दूसरे मणिभ के समान होता है, परन्तु क्वार्टज़ (बिल्लौर) के मणि से बहुत भिन्न होता है; इस भिन्नता में विशिष्टता अवश्य है, परन्तु इसमें वैयक्तिकता नहीं है।

हमारा अभिप्राय यह नही है कि वैयक्तिकता-संयुत जीवित प्राणी तथा वैयक्तिकता रहित अजीवी पदार्थ-जैसे दो सुनिश्चित स्पष्ट प्रकारों में विभाजन किया जा सकता है, वरन् यह कि व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए दोनों में बहुत महत्त्वपूर्ण भिन्नता पायी जा सकती है। एक तारा दूसरे तारे से चमक में भिन्न होता है, परन्तु एक गुलाब से दूसरे गुलाब में, एक हैरिग मछली से दूसरी में, तथा एक ही माता से उत्पन्न दो कुत्तों में दूसरी प्रकार की भिन्नता होती है। वैयक्तिकता व्यक्ति की आनुवंशिक प्रकृति के प्रतिरूप की विशिष्टता है तथा इसे परिपोषण की विशिष्टाओं द्वारा उद्व्यक्त किया जा सकता है। दो प्रकार के प्राणियों की सारभूत विभिन्नताओं पर विचार करते समय हम विशिष्टता शब्द का सरलता से प्रयोग कर सकते हैं। सेंट पाल ने जब यह कहा था कि "सभी मांस एक ही प्रकार के नहीं होते; एक प्रकार का मांस मनुष्यों का होता है दूसरा पशुओं का, एक प्रकार का मांस पक्षियों का होता है व दूसरा मछलियों का" तब उनका अभिप्राय विशिष्टता से ही था। वैयक्तिकता अथवा वैयक्तिक-विलक्षणता तो विशिष्टता का लघु रूप है।

शारीरिक विलक्षणताएँ—वैयक्तिकता शब्द से प्राय: व्यक्तित्व का एक सरल रूप अभिप्रेत होता है। इसका तात्पर्य है कि जीव स्वयं-पूर्ण इकाई है। किसी स्पंज के शरीर का एक कोना बिना किसी घातक प्रभाव के काटा जा सकता है। स्पंज अक्षत रूप में जीवित रहता है तथा काटा हुआ कोना नवीन स्पंज बन जाता है। परन्तु किसी पक्षी के साथ ऐसा नहीं किया जा सकता; उसके लिए हलका-सा घाव या आघात भी घातक हो सकता है। पक्षी में स्पंज की अपेक्षा अधिक वैयक्तिकता होती है। इस अर्थ में वैयक्तिकता पुजीभूत इकाई है और जहाँ शरीर ही नहीं, वरन्

मानसिक तथा आत्मिक जीवन का भी स्पष्ट एकीकरण हो जाता है हम उसे व्यक्तित्व कहते हैं। इसकी भी कई श्रेणियाँ हैं जिनका चरमोत्कर्ष मनुष्य है जिसका व्यक्तित्व अन्य किसी भी प्राणी से श्रेष्ठ है तथा बहुधा इसे 'आत्मा' जैसा पृथक् नाम देना पड़ता है।

परन्तु इस अध्याय में वैयक्तिकता शब्द दूसरे ही अर्थ में, एक व्यक्ति को दूसरे से भिन्न करनेवाली समस्त विशिष्टताओं को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। दूध तथा अण्डे-जैसे खाद्य पदार्थ जो एक मनुष्य के भोजन हैं क्यों दूसरे के लिए विष-समान हो जाते है? क्यों दो भाई दो चचेरे भाइयों की अपेक्षा कभी-कभी अधिक भिन्न हुआ करते हैं? लौख फाएन (Loch Fync) की हैरिंग मछली (यदि कुछ अभी बची हुई हों तो) क्यों पूर्वी तट की हैरिग से भिन्न होती हैं? हम क्यों अपनी उँगलियों की छाप से पहचाने जाते हैं? संक्षेप में हममें से प्रत्येक में वैयक्तिकता क्यों है?

वैयक्तिकता के कारण—माता-पिता तथा संतान एवं पूर्वजों तथा वंशजों के बीच आनुवंशिक सम्बन्धों के कारण कुछ तत्त्व जड़ीभूत हो जाते हैं तथा एक पीढ़ी और दूसरी पीढ़ी में, विशिष्ट समानताएँ बनी रहती हैं। हमें काँटो में अंगूर तथा जंगली घास-पात में अंजीर लगे नहीं मिलते। 'सन्तान माता-पिता के समान उत्पन्न होती है' तथा इसका कारण हमें जनित्र-सांतत्य में प्राप्त होता है। परन्तु इस अपरिवर्तन-शीलता के साथ ही परिवर्तन की भी प्रवृति होती है और यह परिवर्तितता जीवन का मुख्य रहस्य है। जीवशास्त्री नवीनताओं, विशेषकर गुणात्मक नवीनताओं, की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत अस्पष्ट ज्ञान उपलब्ध कर पाये हैं। परन्तु जीवशास्त्रियों को इतना ज्ञात है कि आनुवंशिक गुणों के नये क्रमचय तथा संचय अण्डकोशिका के संसेचन के पहले, मध्य में तथा तुरन्त बाद में होनेवाली बहुत ही सूक्ष्म गतिविधियों के काल में होता है। वंशागति हाथ में आये ताश के पत्तों के समान है जो प्रत्येक नये जीवन के प्रारम्भ में फिर से बाँटे जाते हैं। वैयक्तिकता का मूल कारण हमें इसी क्रिया में मिलता है। वैयक्तिकता आंशिक रूप से आनुवंशिक पत्तों के बाँटे जाने के कारण तथा आंशिक रूप से स्वयं पत्तों में होनेवाले रहस्यपूर्ण परिवर्तनों के कारण होती है।

यहाँ हमें बहुत-सी सुपरिचित दैहिक विलक्षणताओं का कारण मिल जाता है, जैसे किसी बीमारी के होने से बराबर बचे रहना तथा दूसरी के हो जाने का बराबर सन्देह होना, विशेष भोज्य पदार्थों तथा औषधियों से सहज प्रभावित होना तथा रासायनिक

क्रम में होनेवाले अन्तर्जनित विक्षोभ जिससे बहुत ही विलक्षण और आनुवंशिक संरचनात्मक रोग हो जाया करते हैं। ये सब बातें आनुवंशिक संरचना की विशिष्टताओं पर निर्भर होती है।

कुछ दशाओं में यह सम्भव है कि कुछ सूक्ष्म लक्षण वंशागति में प्राप्त न हो। उदाहरण के लिए, हो सकता है कि वयस्क में कोई विशेष किण्व न हो जिसके परिणाम-स्वरूप शरीर-यंत्र का कोई कोना बेकाम हो जाये। दूसरे उदाहरणों में ऐसा संभव प्रतीत होता है कि शरीर के अनेक कार्यों का सामंजस्य बनाये रखनेवाले नियामक तंत्र में दोष रहा हो। दूसरे शब्दों में व्यवस्थित रूप से कार्य करने के लिए शरीर के सामान्य उपापचय को नियंत्रित रखनेवाली तीव्रकारी हारमोन तथा मन्द चैलोन (chalone) का उदासर्जन करनेवाली निस्रोत ग्रंथियों की क्रियाशीलता में अधिकता, न्यूनता अथवा व्याघात भी सम्भव है (देखिए—'हारमोन' पर ग्यारहवाँ अध्याय)। एक चरम सीमा से बौने का जन्म होता है तथा विपरीत चरम सीमा से भीमकाय प्राणी का जन्म हो सकता है; ये विलक्षणताओं के केवल रेखाचित्र उदाहरण हैं। प्रोफेसर गैरोड (Garrod) ने निःस्रोत अथवा अन्तःस्रावी ग्रंथियों की तुलना भार तथा घिर्रियों से की है जिनसे स्थिर संतुलन बना रहता है पर किसी भी भार का हटाना सम्पूर्ण संतुलन-संहति को अस्थिर कर देता है।

मानसिक वैयक्तिकता—सब कुछ होते हुए भी हम मानसिक वैयक्तिकता से ही सबसे अधिक सुपरिचित हैं। प्रत्येक मनुष्य का अपना विशिष्ट ढंग होता है। यदि इसका जबर्दस्ती एवं निश्चित निरोध न हो तो भला या बुरा, यह अधिक प्रकट हो सकता है। इस मानसिक वैयक्तिकता का कोई रासायनिक सूत्र नहीं प्रस्तुत कर सकता; यद्यपि जैसा कि हमने संकेत किया है कि अन्तःस्रावी ग्रंथियों की वैयक्तिक अवस्था का प्रभाव बहुत शक्तिशाली होता है। हमारा तात्पर्य यह है कि छोटे अथवा बड़े नवीन परिवर्तन जो संतान को माता-पिता से, भाई को भाई से, सम्बन्धी को सम्बन्धी से मानसिक रूप से भिन्न बनाते हैं व्यक्ति को उत्पन्न करनेवाले अन्तर्निहित सजीवों अथवा जनित्र कोशिकाओं में होनेवाले क्रमचय और संचय के कारण होते हैं। परन्तु हम मनोवृत्ति को उपापचयन की भाषा में व्यक्त नही कर सकते—यह तो छल होगा। यह संभव है कि वैयक्तिकता या विलक्षणता की समस्या के अस्पष्ट होने का कारण यह हो कि विचलन प्रारम्भ से ही न केवल रासायनिक या उपापचयी हो, वरन् जनित्र कोशिका में भी मानसिक हो। वैयक्तिकता जीव-मनोविक्षेप अथवा मनोगत जीव-रोग का परिणाम है।

प्रतिक्रिया की विशेषताएँ—यहाँ विशिष्टता से हमारा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक स्वतन्त्र प्राणी जिसका अपना अलग अस्तित्व है, दूसरों से नितान्त भिन्न हुआ करता है। भेड़ों में यकृत गलन का रोग उत्पन्न कर देनेवाले यकृत-कृमिक के जीवन इतिहास में गीले खेतों में पानी से भरे गड्ढों में दिये गये उसके अण्डे बढ़कर तैरनेवाले सूक्ष्म डिम्भ का रूप ले लेते हैं। ये बहुत शीघ्रता से अपने रोयें अथवा रोमिकाओं को लचीला तथा सीधा कर तैर सकते हैं। तैरते समय उनको पानी के पौधे, लकड़ी के टुकड़े, पत्थर तथा जलीय प्राणी-जैसे अनेक प्रकार की वस्तुओं के सम्पर्क में आना होता है, परन्तु वे छोटे घोंघे के अतिरिक्त और किसी भी निकट आये प्राणी का स्पर्श नहीं करते। जब वे इस घोंघे (ब्रिटेन में **लिमनेयस ट्रंकेटयूलस** Lymnacus truncatulus) का स्पर्श करते हैं तब स्थिर होकर इस प्राणी के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, जिसके अन्दर उनकी कई पीढ़ियों का जीवन व्यतीत हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि बिना मस्तिष्क का केवल अणुवीक्षण यंत्र से दीख पड़नेवाला डिम्भ, केवल उस प्राणी के स्पर्श को छोड़कर, जिसके द्वारा यह अपना जीवन चक्र बनाये रखने में सफल होता है, अन्य किसी प्राणी के प्रति संवेदनशील क्यों नहीं होता। उनमें कोई तंत्रिका-तंत्र नहीं होता, बहुत अस्पष्ट तंत्र होता है जो संभव है कि वैसा कुछ कार्य करता हो; इस कारण हम इसे वृत्तिक (सहज) प्रवृत्ति भी नहीं कह सकते। किसी प्रकार, जिसकी परिभाषा देना कठिन है, डिम्भ यकृत-क्रमिक की कोशिका का जीवित पदार्थ इस स्थिति में ला दिया जाता है कि वह अपने लिए महत्त्वपूर्ण प्रेरकों के प्रति संवेदनशील हो। वे व्यर्थ की वस्तुओं के प्रति संवेदनशील होकर शक्ति का अपव्यय नहीं करते। परन्तु हर आदमी प्रतिक्रिया की इस विशिष्टता का अधिक निश्चित कारण जानना चाहेगा। इसके रासायनिक अनुरूप भी हैं, जैसे कई क्रियाएँ तब तक रुकी रहती हैं जब तक कि किसी उत्प्रेरक की बहुत सूक्ष्म मात्रा क्रिया को आरम्भ न कर दे। परन्तु यह तो उससे भी अधिक विलक्षण है। इसके भौतिक अनुरूप भी हैं, जैसे अनुकम्पी अनुनादक वायुमण्डल में उपस्थित मिश्रित ध्वनि-तरंगों में से केवल कुछ विशिष्ट ध्वनि-तरंगों को ही पकड़ते हैं। परन्तु यह इससे भी अधिक विलक्षण है। यह जीवकर विशिष्टता है।

शम्बुक (सीपी) और मिन्नो (Minnow) **मछलियाँ**—प्रवाहित जल में रहनेवाली मादा शम्बुक वर्ष के प्रारम्भ में ही अण्डे देती है, परन्तु ग्रीष्म ऋतु आने तक उनको मुक्त नहीं करती। उस समय तक वे बाह्य क्लोम पट्टिका में शीघ्रता से खुलते-बन्द होते प्रकवचवाले आलपिन के सिर के आकार के डिम्भ बन जाते हैं तथा लसदार

(सूत्र गुच्छ) सूत्र उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रवाहित जल में रहनेवाली शम्बुक (सीपी) का जीवन-इतिहास उस समय तक पूरा नहीं हो पाता जब तक कि वह मिन्नो (Minnow), स्टिकल बैक (stickle back) तथा ट्राउट (trout) आदि मछलियों की त्वचा अथवा क्लोम में जीवन की एक अवधि व्यतीत न कर ले। उत्तरी अमेरिका के प्रवाहित जल की कुछ शम्बुकें इस उद्देश्य की पूर्ति केवल एक जाति की मछली में ही कर सकती हैं। इस कथन से हमारा अभिप्राय केवल यही नहीं है कि जब तक उपयुक्त मछली तैरती हुई निकट न आ जावे तब तक माता शम्बुक (सीपी) डिम्भ को पृथक नहीं करती, वरन् यह भी है कि सूक्ष्म डिम्भ स्वयं भी एक उपयुक्त पोषक की समीपता के प्रति बहुत संवेदनशील हो जाते हैं। जल-जीव शाला में स्टिकल बैक मछली का एक टुकड़ा डालने पर विश्राम करते हुए डिम्भ स्पष्टतः उत्तेजित हो जाते हैं। उनकी संरचना जो यकृत-कृमिक की अपेक्षा जटिल होते हुए भी बहुत सरल है, एक विशिष्ट प्रकार की उत्तेजना का प्रतिवेदन करने के लिए लय-बद्ध है। उनकी वंशागति में एक विशिष्ट विभेदक संवेदनशीलता होती है।

यह सर्वविदित है कि तितली अथवा शलभ बहुधा ऐसे पौधे पर अपने अण्डे देते हैं जो इल्लियों के लिए उपयुक्त होता है, यद्यपि पूर्ण विकसित (वयस्क) कीट के आहार-पोषण की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं होता। इकन्यूमन मक्खी (ichneumon fly) किसी इल्ली अथवा उसके सदृश किसी अन्य जीव में अण्डे रख देती है तथा पोषिता का चुनाव वयस्क कीट की दृष्टि से नहीं, वरन् डिम्भ की भूख मिटाने की योग्यता के अनुसार किया जाता है। कोषित पिस्सू अपने आवरण में उस समय तक पड़ा रहता है जब तक मनुष्य के पैरों के आघात से फर्श न हिल उठे और तब वह अपने आपको शीघ्रता से स्वतन्त्र करके कूदता है मानो वह अपने सम्पूर्ण जीवन में सदा कूदता ही रहा हो। कुछ गर्म देशों में मक्षिका डिम्भ झोपड़ी के मिट्टी के फर्शों मे तब तक निष्क्रिय पड़े रहते है जब तक किसी सोनेवाले मनुष्य के शरीर द्वारा फर्श गर्म न हो जाये। इस प्रकार की विशिष्ट संवेदन-शीलता के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं, परन्तु निम्न श्रेणी के प्राणियों में पाये जानेवाले उदाहरणों की तुलना में अन्य उदाहरण संभवतः अधिक बोधगम्य हैं। क्योंकि हमने जिन प्राणियों का यहाँ उल्लेख किया है उनमें तंत्रिका-तंत्र बहुत विकसित है जिसमें निःसन्देह जातिगत पंजीयन भी आते हैं जो कभी-कभी नैसर्गिक व्यवहार की वंशागति क्षमता का रूप ले लेते हैं।

विशिष्ट सहज-प्रवृत्तियाँ—वास्तविक सहज-प्रवृत्तियों और आत्म-परिरक्षण एवं समूहशीलता जैसी सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा प्राथमिक आवश्यकताओं व भूख (तीव्र अभिलाषा एवं प्रेम) में विभेद करना आवश्यक है क्योंकि वास्तविक सहज प्रवृत्तियाँ (जो मनुष्य में बहुत कम हैं) बहुत ही विशिष्ट संकेतों को समझती हैं। वे सामान्य अवस्थाओं की नहीं विशिष्ट उत्तेजनाओं की प्रत्युत्तर हैं। दूसरे शब्दों में वे बहुत ही विशिष्ट हैं। यकका (yucca) शलभ किसी ग्रीष्म कालीन सन्ध्या में इस नवीन संसार में प्रवेश करते ही उड़कर और फूलों पर न जाकर यक्का के पुष्प पर ही पहुँच जाता है और यक्का पुष्प के प्रति वह सदा दो में से एक ही रीति से व्यवहार करता है, किसी अन्य रीति से नहीं। अधिकतर सहज प्रवृत्तियाँ बहुत निश्चित प्रकार की होती हैं। तंत्रिका-तंत्र ने प्रत्युत्तरों को अपने अन्दर निहित कर रखा है जो केवल विशिष्ट उत्तेजना द्वारा ही सक्रिय होते हैं।

संरचनात्मक विशिष्टताएँ—यह वास्तव में एक विलक्षण तथ्य है कि घोड़े के श्वास-नाल का अन्तः स्वरण करनेवाली कोशिकाएँ कुत्ते तथा अन्य पशुओं के श्वास-नाल की कोशिकाओं से भिन्न होती हैं। प्रत्येक जाति दूसरे से भिन्न होती है। समस्त रीढ़धारी प्राणियों के रुधिर में एक समानता होती है, परन्तु कोई भी विशेषज्ञ बिना हिचकिचाहट के यह बता सकता है कि किसी चोर के कोट पर लगे रुधिर के धब्बे पक्षी या स्तनधारी के रुधिर के हैं अथवा मनुष्य के। फिर यह तथ्य भी सामने आता है कि निकट सम्बन्धित स्तनधारियों के जीवित रुधिर अनुरूपता से मिश्रित हो जाते हैं जब कि दूरस्थ सम्बन्धित स्तनधारियों के रुधिर विध्वंसक रूप से मिश्रित होते हैं। जंगली घोंघे के मुख की रेतीजिह्वा उद्यान घोंघे के मुख में पाये जानेवाली से भिन्न होती है। इसी भाँति प्रत्येक पग पर हमको विशिष्टता मिलती है। प्रत्येक जाति अन्य से भिन्न हुआ करती है। यह कहावत कि "पक्षी अपने पक्षों (पंखों) से पहिचाना जाता है" अक्षरशः सत्य है। कोई अच्छा पक्षी-विज्ञान-विशेषज्ञ एक पक्ष से ठीक-ठीक पहिचान कर सकता है और हम एक अच्छे मत्स्य-विज्ञान-विशेषज्ञ को भी जानते हैं जो इंग्लैंड की किसी भी सामान्य मछली को उसके एक वर्ग इंच त्वचा पर लगे विशिष्ट शल्कों से पहिचान सकता था।

रासायनिक वैयक्तिकता—यह मानकर कि प्रत्येक जीवित प्राणी में उसका निजी विशिष्ट भौतिक संगठन होता है, सम्भवतः हम समस्या के मर्म में पहुँच गये हैं। अस्पष्ट मानसिक विशिष्टता के अतिरिक्त वैयक्तिकता का रासायनिक आधार भी है। यह सत्य है कि गधे के रुधिर-केलास घोड़े के रुधिर-केलास से भिन्न होते हैं।

वास्तव में पालतू कुत्ते व जंगली या आस्ट्रेलिया के फेरल डिंगो (feral dingo) कुत्ते तक के रुधिर-केलास एक दूसरे से भिन्न होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक जाति की अपनी रासायनिक वैयक्तिकता होती है और यह अफलातूनी कारण के भी विरुद्ध नहीं है जिसके अनुसार प्रत्येक प्रकार का प्राणी एक विलक्षण भाव का प्रदर्शन करता है क्योंकि संभव है कि शारीरिक तथा मानसिक, उपापचयन तथा मानसिकता जीवनरूपी एक ही ढाल के दो पहलू हों। बहुत पहले फ्रांसीसी रासायनिक गोतिये (Gautier) ने यह बताया था कि अंगूर के विभिन्न प्रकारों की रासायनिक रचना अलग-अलग होती है मानो प्रत्येक प्रकार का अपना विशिष्ट रासायनिक क्रम हो।

रेडियम का आविष्कार होने के पूर्व हम विभिन्न प्रकार के रासायनिक तत्त्वों का होना स्वीकार करते थे और साथ ही किसी प्रकार की अविकसित वस्तु से जिससे संसार का निर्माण हुआ हो उनके संभावनीय विकास की अस्पष्ट परिकल्पना भी करते थे। आवर्त नियम आविष्कृत होने पर ज्ञात हुआ कि विभिन्न रासायनिक तत्त्व एक श्रेणी में क्रमबद्ध किये जा सकते हैं जो उसके सदस्यों के आपस में सम्बन्धित होने की ओर संकेत करता है। जैसे तीसरी श्रेणी के तीसरे तत्त्व और दूसरी श्रेणी के तीसरे तत्त्व में स्पष्ट समानता दिखती है। परन्तु रासायनिक तत्त्वों का नया सिद्धान्त जो विकिरणशीलता के अध्ययन पर केन्द्रित अनुसंधानों पर आधारित है, निश्चित रूप से बताता है कि एक तत्त्व का उद्भव दूसरे तत्त्व से किया जा सकता है अथवा दूसरे प्रकरणों में दूसरे तत्त्व से कुछ विशिष्ट अवयवों के संकलन अथवा पृथक्करण द्वारा विकसित सही ही माना जा सकता है। सीसा गुणों में यूरेनियम से बहुत भिन्न है, किन्तु फिर भी हम परिमाण रूप में एक को दूसरे से विकसित मान सकते हैं।

प्राणियों तथा पौधों की जातियाँ भी बहुत कुछ रासायनिक तत्त्वों के समान हैं। प्रत्येक का अपना व्यक्तित्व है। इनमें विलक्षण विशिष्टताएँ होती हैं। फिर भी रासायनिक तत्त्वों के सादृश्य से हम यह समझ सकते हैं कि बिना किसी जादू अथवा विलक्षणता के बड़े परिवर्तन कैसे सम्भव होते हैं। संभवतः एक कार्बनिक रूप से दूसरे में परिवर्तन असभ्य परिवर्तन है जिसे हम उत्परिवर्तन कहते हैं तथा जो यूरेनियम के सीसे में परिवर्तन के समान है। सम्भवतः एक प्रजाति का दूसरे में परिवर्तन होने को हम अस्थिरता या गौण परिवर्तन कहते हैं। इसकी तुलना एक एथिल यौगिक के दूसरे में परिवर्तन होने से की जा सकती है।

विशिष्ट प्रोटीन—संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विभिन्न जातियाँ एक दूसरे से अपने प्रभावी रासायनिक यौगिकों में तथा व्यापक रासायनिक क्रमों (अथवा

उपापचयन) में भिन्न होती हैं। समस्त जीवित तत्त्वों में प्रोटीन का मिश्रण अत्यावश्यक अंग होता है तथा एमिल फिशर (Emil Fischer) आदि के अनुसंधानों से यह प्रकट हुआ है "कि जिन बीस असाधारण अमिनो एसिडों (amino acid) तथा द्वि-अमीनो एसिडों (diamino acid) से प्रोटीन-यौगिक बनते हैं उनके लगभग अनन्त प्रकार से समूहीकरण करने तथा विभिन्न अनुपातों में संयुक्त होने की सम्भावना है।" ऐसी संभावनाएँ करोड़ से भी अधिक है। "हम विश्वास कर सकते हैं कि प्रत्येक जाति के लिए विशिष्ट प्रोटीन होते है तथा वास्तव में जाति के प्रत्येक व्यक्ति के लिए भी अलग-अलग प्रोटीन हो सकते हैं।"

यह वैयत्किकता का रासायनिक आधार है। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रयोगशाला होता है और इस सत्य को मानकर हम कृत्रिम रूप से सरल दिखनेवाले भौतिकवाद के किसी प्रकार को नहीं स्वीकार कर रहे हैं क्योंकि हमें यह कल्पना करने का कोई अधिकार नहीं है कि एक जीवित प्राणी का मानसिक रूप उसके शारीरिक अथवा रासायनिक रूप से किसी भाँति हीन है। मानसिकता उतनी ही सत्य है जितना उपापचयन सत्य है। सम्भवतः वे एक ढाल के दो पक्ष है, एक गुम्वज की अवतल तथा उत्तल तलें। इसलिए हमें वैयत्किकता के रासायनिक आधार की बात करते समय यह नहीं समझना चाहिए कि मानसिक आधार है ही नहीं। संभवतः यदि हम जानकारी में आयी सारी वास्तविकताओं को ठीक से संयोजित कर सकें, तो हम दोनों आधारों को एक ही रूप में देखने में समर्थ होंगे।

एक मनुष्य का भोजन दूसरे के लिए विष है—हमें विलक्षणता के दूसरे सुपरिचित उदाहरण भी देखने चाहिए। हम बहुत-से ऐसे लोगों को जानते हैं या उनके सम्वन्ध में सुना है जो अनजान में तनिक-सा अण्डा खाने से रोगी हो जाते हैं। कभी शरीर पर ददोरे पड़ जाते हैं, कभी दमा का दौरा हो जाता है, कभी उदर-पीड़ा शुरू हो जाती है तथा अन्य अनेक रोग हो जाते हैं। इनमें विष के प्रभाव के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। दूध, शम्बुक (सीपी) तथा श्रिम्प (Shrimp) जैसे विभिन्न प्रकार के जीव भोज्य पदार्थ एक ही प्रकार के लक्षण उत्पन्न कर देते हैं, परन्तु सचेतन प्राणी जो वास्तव में विरले ही होते हैं किसी एक ही वस्तु के सम्बन्ध में नाजुक मिज़ाज़ होते हैं। यद्यपि उसे अण्डे तुरन्त अस्वस्थ कर देते हैं, परन्तु दूध संभवतः उसको निरोग करने में सहायक हो सकता है।

केवल एक झिगा खाने से रोगग्रस्त हो जानेवाली महिला, लौब्स्टर (Lobster) या क्रेफ़िश (Crayfish) निःसंकोच खाती पायी गयी है। संवेदनशीलता बहुत ही

विशिष्टताएँ लिये होती है तथा यथार्थ उदाहरणों में कल्पना का कोई प्रभाव नहीं पाया जाता, क्योंकि जब कोई व्यक्ति अनजाने में उत्तेजक पदार्थ किसी और पदार्थ के साथ भी खाये तो भी व्याधि के लक्षण तुरन्त प्रगट हो जाते हैं। किसी-किसी मनुष्य का जीवन अण्डे से बने रसे या अन्य भोजन पदार्थ खाने से खतरे में पड़ते पाया गया है जिसमें अण्डा इस प्रकार छिपाया गया था कि जिह्वा द्वारा अण्डे की उपस्थिति का ज्ञान होना असम्भव था।

अति-प्रतिसंवेदिता—यह रोचक बात है कि ऐसा "विष प्रभाव" फलों अथवा शाकपात द्वारा बहुत कम होता पाया गया है। फिर भी कुछ लोग एसे होते हैं जो स्ट्राबेरी खाने का साहस नहीं कर सकते और प्रोफसर पैंगनीज़ (Pagniez) द्वारा दिये गये उदाहरण में एक व्यक्ति किसी एक विशेष स्थान की उत्पादित स्ट्राबेरी ही नहीं खा सकता था। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भोजन में ये बुरे प्रभाव किसी अपथ्य की उपस्थिति के कारण नहीं होते। वे पूर्णतः ताजे तथा पथ्य पदार्थों द्वारा होते हैं और उनको बासी या सड़ी शम्बुक (सीपी) या श्रिम्प (shrimp) के खाने से संभ्रामत नहीं करना चाहिए। दोनों प्रकरणों में प्रगट होनेवाले लक्षण भिन्न होते हैं।

इस कहावत में कि "एक मनुष्य का भोजन दूसरे के लिए विष हो सकता है" संभवतः ऊपर लिखे तथ्यों का कुछ संकेत मिलता है। इसको समझने का प्रयास बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही किया गया और सर्वप्रथम प्रयास प्रतिष्ठित फ्रांसीसी शरीर-क्रिया शास्त्री (कायिकी शास्त्रज्ञ) प्रोफेसर चार्ल्स रिशे (Charles Richet) ने किया था। उनके अन्वेषणों की मनोरंजक कथा की रूप-रेखा यहाँ दी जा सकती है।

सी-एनीमोन (Sea anemone) **और औषधि**—प्रोफेसर रिशे ने बताया है कि वे मोनको के राजकुमार के केलिपोन (yacht) में समुद्र यात्रा करते समय, उष्ण समुद्र में सामान्यतः पाये जानवाले पौरतुगीज़ मैन आफ वार (Portuguese Man of war) नामक विलक्षण सामुद्रिक प्राणी-वस्ती की तीक्ष्ण दंशन-शक्ति से बहुत प्रभावित हुए। इसके दंशन-सूत्रों का ग्लिसरीन में निकाला गया सार बत्तख व खरगोश में अन्तःक्षेपित किये जाने पर बहुत विषकारी पाया गया।

उन्होंने इस पर अधिक अध्ययन करने का निश्चय किया। परन्तु फ्रांस लौटने पर उनको ये कीड़े प्राप्त न हो सके। इसलिए उन्होंने समुद्र के किनारे छोटे-छोटे गड्ढों में पुष्पों की भाँति रहनेवाले, डंक मारनेवाले सामान्य सामुद्रिक प्राणी सी-एनीमोन (sea anemone) की स्पर्शिका का ग्लिसरीन सार बनाया। एम० पोर्टिये (M. Portier) के साथ, जो समुद्र-यात्रा में भी उनके साथ थे, उन्होंने सी-एनीमोन का सार,

कुत्तों में अन्तः क्षेपित किया और परिणाम को घातक पाया। कुछ कुत्तों को जो विष की कम मात्रा के कारण बचकर बाद में स्वस्थ हो गये, उन्होंने तीन सप्ताह बाद बहुत थोड़े परिमाण में दूसरी मात्रा दी। आश्चर्यचकित हो उन्होंने देखा कि वे कुत्ते कुछ ही मिनटों में मर गये। प्राणी की इस अतिप्रतिसंवेदिता को रिश ने 'तीव्रग्राहिता'[1] नाम दिया है।

शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि यह आवश्यक नहीं है कि प्राणी में अतिप्रतिसंवेदिता लानेवाली अन्तःक्षेपित वस्तु विष ही हो; वह अण्डे की सफेदी, रुधिर सीरम, दूध अथवा पेशीसार या कुछ भी हो सकती है। यह विश्वास किया जाता है कि प्राणी को सूई लगाने पर उसका रुधिर प्रतिविधानक अथवा प्रतिकाय बना कर प्रतिवेदन करता है। कुछ समय (अन्तर्विकासावधि) बीतने के पश्चात् दूसरी मात्रा मिलती है जो इतनी सूक्ष्म होती है कि यदि प्राणी अतिप्रतिसंवेदनशील न हो तो उस मात्रा का उस पर कोई प्रभाव न पड़े। परन्तु इसका परिणाम बहुत तीव्र होता है जो अन्ततः अधिकतर घातक सिद्ध होता है। यहाँ तक देखा गया है कि यदि किसी कुत्ते के काटे प्राणी के पास बाद में उस कुत्ते का एक बाल भी पहुँच जाय तो उसकी मृत्यु हो जाती है। इसे 'तीव्रग्राहिता' कहते हैं।

गिनीपिग और हत्या की जाँच--तीव्रग्राहिता की कायिकी का अध्ययन करने से पूर्व हम यहाँ कुछ और उदाहरण दें तो अच्छा होगा। गिनीपिगों का विभिन्न प्रकार के रुधिरों के सूक्ष्म अन्तःक्षेप के प्रति अतिप्रतिसंवेदित होना बहुत सरल है। उपचार के पश्चात् 'अ' घोड़े के रुधिर के प्रति संवेदनशील होगा, 'ब' बैल के, 'स' भेड़ के, 'क' कुत्ते के तथा 'ख' मनुष्य के। यह हमको रुधिर की सूक्ष्म मात्रा को पहिचानने का द्रुत तथा निश्चित साधन दे देता है कि वह घोड़े का है अथवा मनुष्य का। रुधिर के खोल से 'अ' से लेकर 'ख' तक के गिनीपिगों में सूई लगायी जाती है; यदि 'अ' में प्रतिक्रिया होती है तो रुधिर अश्व का था, यदि 'ख' में होती है तो वह मनुष्य का था। यह फाँसी देने का विचित्र तरीका है।

कुछ गिनीपिगों को मानव चिरशव (ममी mummy) की पेशियों से बनाये गये घोल की सुई दी गयी। कुछ समय पश्चात् उन पर विभिन्न जानवरों की पेशियों के सार से परीक्षण किये गये। परन्तु उनमें केवल मानवीय मांसपेशियों के प्रति प्रतिक्रिया पायी गयी जिससे प्रमाणित होता है कि पिछले तीन हजार वर्षों में मानवीय शरीर की रासायनिक संरचना में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है।

1. Anaphylaxis

परागज ज्वर—कुछ लोग परागज ज्वर से बहुधा पीड़ित रहते हैं जिसके विशेष लक्षण–सिर में ठंड, सूजी आँखें, सिर दर्द तथा ज्वरावस्था हैं। बहुधा यह वायु में तैरते हुए परागकणों के श्वास के साथ अन्दर जाने से होता है। वसन्त ऋतु में होनेवाले परागज ज्वर के कारण मुख्यतः घास के पराग कण होते हैं; पतझड़ में वे पीली पुष्प-मंजरी (golden rod) तथा अन्य पौधों से आते हैं। यह भी तीव्रग्राहिता का उदाहरण है क्योंकि कष्टदायक देहस्वभाव ग्रस्त रोगी, जो एक बार रोगग्रस्त हो चुका है, इतनी सहज प्रभावी, अति-प्रतिसंवेदित स्थिति में रहता है कि परागकणों से भरी हुई वायु का एक झोंका ही परागज ज्वर उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त होता है।

यदि श्वास-नाल भी इस उत्तेजना से प्रभावित हो जाती है तो रोगी को दमा हो जाता है। यह बता देना उचित होगा कि एक मनुष्य अथवा पशु में परागज ज्वर घास के पराग कणों के सार की सूई लगाकर भी उत्पन्न किया जा सकता है और अब ऐसे प्रतिक्रियात्मक उपचार भी हैं जो रोगी को भविष्य में रोगग्रस्त होने से बचा सकते हैं। सी. एनीमोन और परागज ज्वर में वहुत अन्तर है, परन्तु ये एक तार्किक क्रम में सम्वन्धित हैं।

प्रिमरोज (Primroses) **और विष-बेल**—कुछ लोग जिनमें पेशेवर माली भी हैं, सामान्य उगाये हुए तथा अहानिकारक दिखने वाले प्रिम्यूला औबकोनिका (Primula Obconica) के स्पर्श के प्रति असामान्य रूप से संवेदनशील होते हैं। इस पौधे का स्पर्श होने के पश्चात् शरीर में ददौरे उभर आते हैं और बहुत बेचैनी होती है। यह भी तीव्रग्राहिता का उदाहरण है; कभी-कभी एक बुरी सूई लगने के पश्चात् अति-प्रति-संवेदिता शुरू हो जाती है और उसके पश्चात् तनिक-सा स्पर्श भी इतना संताप देता है जो अनुपात से प्रायः अधिक हुआ करता है। इसका सबसे सरल उपचार यही है कि **प्रिम्यूला औबकोनिका** (Primula obconica) को हटाकर अन्य वस्तुएँ उत्पादित की जायें। यही बात अधिक घातक रूप में उत्तरी अमेरिका की विष बेल अथवा पोइज़न आइवी (Poison ivy) द्वारा निर्दशित होती है, जो किसी समय वरजिनिया क्रीपर (Virginia creeper) के भ्रम में इंग्लैंड के उद्यानों में लगायी जाती थी। यह **हूस टोक्सीकोडेन्ड्रोन** (Rhus Toxicodendron) परिवार का पौधा है तथा इसमें बहुत ही विषैला तेल होता है, जिसकी अति-सूक्ष्म बूँदें धूल के कणों के साथ फैल जाती है, क्योंकि सहज प्रभाववश्य व्यक्ति इससे कुछ दूर से ही प्रभावित हो जाते हैं। यह स्पष्ट है कि जावा के विप-वृक्ष (Upas tree) की कहानी भयानक तथ्य पर आधारित है और विप-बेल ही ऐसी अकेली वनस्पति नहीं है।

उस कुत्ते का बाल जिसने आप को काटा हो—डा० मार्क्ले (Dr. markley) ने एक महिला का बहुत ही विचित्र दृष्टांत दिया है जिसके मुख, नाक तथा प्रबाहु पर वर्षों तक ददौरे तथा खुजली रही। हर प्रकार का उपचार किया गया और 'दी डाक्टर्ज डाइलेमा' (The Doctor's Dilemma) नामक पुस्तक के लेखक को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि उण्डुक भी काट दिया गया। परन्तु यह सब व्यर्थ रहा। अन्त में यह पाया गया कि व्याधि एक गिनीपिग (Guinea Pig) के संसर्ग के कारण थी, जिसको उस महिला के लड़के ने पाल रखा था। उसके एक बाल का स्पर्श भी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता था। परन्तु अति प्रति-संवेदिता पूर्णतः सीमित थी क्योंकि त्वचा के वही भाग प्रभावित होते थे जिन पर प्रथम बार प्रभाव हो चुका था।

गिनीपिग के बाल, प्रिम्यूला (Primula) तथा स्ट्राबेरी जैसे प्रकरण जिज्ञासाओं के स्वभाव के अनुकूल हैं और यह समझ लेना आवश्यक है कि बिना किसी भाँति सुरम्य हुए भी तीव्रग्राहिता-वृत्त बहुत महत्त्व के हो सकते हैं। वे क्विनीन (quinine) तथा एण्टीपाईरीन (antipyrine) जैसी औषधियों अथवा सीरम (serum) उपचार के सम्बन्ध में बहुधा पाये जाते हैं। सहज प्रभावित लोगों में विकसित होनेवाली अति प्रति संवेदिता अथवा असहनशीलता कभी-कभी बहुत असामान्य होती है। शुष्क रिसीन (ricine) की बोतल की तनिक-सी फूत्कार बहुत तीव्र लक्षण उत्पन्न कर सकती है। एक औषधि बनाने वाले रसायनज्ञ ने न्याय विकरण में पंचों को यह बताया कि वह इपीकाकुन्हा (ipecacuanha) चूर्ण की बोतल छींके व आँखों से पानी बहाये बिना नहीं खोल सकता।

एक बहुत ही रोचक तथ्य यह है कि यदि एक सामान्य व्यक्ति में तीव्रग्राहित प्राणी के रुधिर अथवा रुधिर सीरम की सूई लगा दी जाये तो सूई लगनेवाले व्यक्ति में भी तीव्रग्राहिता उत्पन्न हो जाती है और यह प्रसरण बहुत शीघ्रता से होता है। इससे अधिक एक तीव्रग्राहित मादा गिनीपिग के ऐसी संतान उत्पन्न हो सकती है जिसमें उसकी विशिष्टताएँ हों—यह उत्पत्ति—पूर्व-मैत्री का प्रमाण है। परन्तु इस प्रकार की जन्मजात तीव्रग्राहिता अधिक स्थायी नहीं होती।

अध्याय १५

सजीव भूत एवं आनुवंशिकता

अर्ध निद्रित कुत्ता काल्पनिक घास-फूस की गरम चटाई में अपने आपको सुखी महसूस करता हुआ घूमता रहता है। सहस्रों वर्ष पूर्व उसके जंगली पूर्वज जो करते थे, वही वह आज भी करता है। भूत समाप्त नहीं हुआ वह आज भी जीवित है। झाड़ियों की पंक्ति के पीछे होनेवाली आकस्मिक हलचल से घोड़े का चौंक उठना, सम्भवतः यह सुझाता है कि ऐसा वह साँप के डर से करता है, जिसने कभी उसके किसी पूर्वज को काट खाया था यदि कोई लड़का झाड़ियों में घुसकर अपने कोट फाड़ लेता है तो उसकी अनुरागी माता भी "ऐ छोटे बन्दर" कह कर उसे सम्बोधित करती है। यह इस बात का सुनिश्चित प्रमाण है कि भूत सदा वर्तमान में सजीव बना रहता है।

जिस प्रकार पुरुषों के कपड़ों में कुछ बटन बिना काज के होते हैं व कुछ काज बिना बटन के, जो वास्तव में पुरातन चलन के अवशेष हैं, उसी प्रकार हमारे शरीर भी अवशेषों के चलते-फिरते संग्रहालय हैं, जैसे हमारी आँख में ऊपर की ओर तीसरी पलक होती है तथा बाह्य कर्ण से जुटी हुई मांस-पेशियाँ होती हैं जो शायद ही कभी काम में आती हो। वर्तमान जीव-शरीर में आज भी पुरातन भूत जीवित है।

साधारण रूप में एक प्राणी अपने वंश वृक्ष में ऊपर की ओर बहुत सरल विधि से चढ़ता जाता है। मेंढ़क के जीवन इतिहास में मछलियों के अवशेष चिह्नों का पता लगाना बहुत सरल है और भ्रूण चूज़े की गर्दन पर क्लोम रन्ध्र के चिह्न दिखाई देने से पता चलता है कि उनके पूर्वज भी जलीय प्राणी थे। हमारे रुधिर में उपस्थित लवणों का परिमाण एवं समुद्र में उन्हीं लवणों के परिमाण के अनुपात में आश्चर्यजनक सादृश्य का होना स्वयं ही यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि मानव जाति का आविर्भाव स्तनधारियों से, स्तनधारियों का सरीसृपों से, सरीसृपों का उभयचरों से एवं उनका आविर्भाव कैम्ब्रियन सागर में रहनेवाली मछलियों से हुआ है।

भूत की सजीव उपस्थिति के हमें अनगिनत उदाहरण मिलते हैं, जिनमें से कुछ पूर्णतः नाटकीय होते हैं, कुछ दुःखदायी रूप से आश्चर्यचकित कर देनेवाले होते हैं जब हम पाते हैं कि क्रम विकास की सीढ़ी पर चढ़ते समय हमारी पकड़ ढीली होते ही हम

फिसल कर कई डंडे नीचे आ गये। परन्तु हम पैतृक गुणों के पुनर्वासन के विलक्षण उदाहरणों पर बहुत अधिक ध्यान केन्द्रित करने को तत्पर रहते हैं, क्योंकि तभी समस्त संततियों में जीवन की निरंतरता का महत्त्वपूर्ण व सर्वव्यापी तथ्य हमारे सम्मुख आता है। हमें आनुवंशिकता द्वारा वर्तमान में भूत की उपस्थिति का जगद्-व्यापी उदाहरण मिलता है। आनुवंशिकता कोई शक्ति, सिद्धान्त अथवा सत्ता नहीं है, वरन् यह हमको हमारे पूर्वजों से जोड़नेवाले मूल सम्बन्ध का नाम है। आनुवंशिकता उत्तरोत्तर पीढ़ियों में एक आनुवंशिक (जनन) बन्धन है और इसके कारण समगतः संतति का माता-पिता के समान ही होना आवश्यक है। इस 'आवश्यक' का कारण सर्वप्रथम सर फ्रांसिस गाल्टन (Sir Francis Galston) और आगस्ट वीज़मैन (August Weismann) ने जनित्र-द्रव्य[1] की निरंतरता से सम्बन्धित अपनी व्याख्या में स्पष्टतः बताया था। भ्रूण-शरीर बनाने में आश्चर्यजनक श्रम विभाजन के साथ, बारम्बार विभाजित होती हुई, निषेचित अण्डकोशा जनित्र-पदार्थ का एक भाग शरीर बनाने के उपयोग में न लाकर बचा लेती है जो संतति की जननेन्द्रिय बनाने का कार्य प्रारम्भ करता है तथा समय आने पर जीवन की साहसिक यात्रा के लिए अपने समान ही एक दूसरा पोत सागर में प्रविष्ट करा देता है। संतति माता-पिता के समान ही होती है क्योंकि जनित्र कोशिकाएँ उन अपरिर्वातित भ्रूण-कोशिकाओं की वंशज हैं जो शरीर निर्माण में भाग न लेकर पृथक् रहती हैं। वे तंत्रिका अथवा पेशी, रुधिर अथवा अस्थि, किसी में भी परिर्वातित न होकर अण्ड की तरह इन सब की संभाव्यता रखती हैं। यह कहने के स्थान पर कि मादा कुक्कुट अण्डा देती है, हम कहेंगे कि अण्डा मादां कुक्कुट को जन्म देता है और वह फिर अण्डे को। जनित्र-अविच्छिन्नता के महान् तथ्य की बहुधा व्याख्या होती रही है। गाल्टन ने पीढ़ियों की तुलना लोलकों से की है जो जनित्र-कोशिका से बने अनश्वर कण्ठहार से गिरते हैं। उसने कहा कि एक अर्थ में शिशु भी उतना ही प्राचीन है जितने उसके माता-पिता। उसने माता-पिता को शिशु-जनक न मानकर उन्हें जनित्र कोशिकाओं का न्यासधर (ट्रस्टी) बताया है। एक नवीन अर्थ में शिशु पुरातन संवर्ग का ही एक भाग है। अथवा जैसा बर्गसाँ (M. Bergson) की इस अधिक सजीव उपमा के अनुसार "जीवन विकसित जीव के माध्यम से एक जनित्र से दूसरे जनित्र में प्रवाहित होनेवाले प्रवाह के समान है।"

आनुवंशिकता का अर्थ जीवित भूत से है—एक विशिष्ट संगठन का स्थिरीकरण; और इसका स्पष्टीकरण हमें जनित्र-अविच्छिन्नता के तथ्य में मिलता है। इस प्रकार

1. Germ-plasm

हम देखते हैं कि बबूल के पेड़ पर आम क्यों नहीं फलते। हम समझ सकते हैं कि क्यों एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में एक ही रूप की निश्चलता रहती है। आनुवंशिकता गति के प्रथम नियम के समान हैं। हम यह भी समझ सकते हैं कि व्यक्तियों द्वारा सहे गये आघातों के चिह्नों की अगली पीढ़ी में जाने की सम्भावना क्यों नहीं है, वे जनित्र द्रव्य को विशिप्ट रूप से प्रभावित नहीं कर पाते।

इस सामान्य आधार पर स्पप्ट बात जिससे हम अनुभव में भी सुपरिचित हैं कि सब प्रकार के संरचनात्मक लक्षण, आवश्यक तथा तुच्छ, सामान्य और असामान्य, मानसिक व शारीरिक माता-पिता द्वारा सन्तान को वंशान्तरित कर दिये जाते हैं। वन्ध्यता के अतिरिक्त ऐसी कोई जन्मजात विशिष्टता नहीं है जो वंशान्तरित न की जा सके। यद्यपि "की जा सके" का वही अर्थ नहीं है जो "की जानी चाहिए" का होता है क्योंकि आनुवंशिकता में भाग्य भी काम करता है, जिस पर आधुनिक काल में एकक-लक्षणों की खोज हो जाने के कारण अधिक वल दिया जा रहा है। दूसरे शब्दों में ये स्पष्ट, तोड़े-मरोड़े न जा सकने योग्य, दूसरों से अमिश्रित रहनेवाले लक्षण हैं जो सदा कठोरता से अवश्य कुछ वंशजों में बिना किसी से मिले या विभक्त हुए उपस्थित रहते हैं। चार-पाँच पीढ़ियों तक बराबर एक ही आकृति के बहुत ही बुद्धिमान् बौने पैदा होते देखे गये हैं। हैप्सवर्ग होंठ (Hapsburg lip) की हरवंश में उपस्थिति साधारण ऐकिक-लक्षण का ऐसा ही उदाहरण है जो एक वार समाविष्ट होने पर स्थायी हो जाता है। छः उँगलियों-जैसी असामान्य विशिष्टता कभी-कभी छः पीढ़ियों तक नहीं हटायी जा सकती। इंग्लैड के राजा चार्ल्स प्रथम (King Charles I) के समय चिकित्सकों को ज्याँ नौजारे (Jean Naugaret) के बारे में पता था जिसे रतौंधी आती थी। दस पीढ़ियों के बारे में हमें ज्ञान है कि २५० वर्षो में उस वंश के २००० लोगों में से अनेक में एक के बाद दूसरी पीढ़ी में रतौंधी होती पायी गयी। वंश किसी भी प्राकृतिक रूप से सामान्य सदस्य से यह विशिष्टता वंशान्तरित नहीं हुई। रतौंधी सदा असामान्य सदस्यों के ही माध्यम से जड़ जमाती पायी गयी। इस भाँति हमें आनुवंशिकता की दृढ़ता की धारणा हो जाती है। पूर्वजों के चिह्नों से आसानी से पीछा नही छुड़ाया जा सकता। परिणाम निर्मम होते हैं। यथार्थ में यह माता-पिता की पित्रागत सम्पत्ति की भाँति देन नहीं है। होता यह है कि जनित्र-द्रव्य के विशेष संगठन में विशिष्टताओं की अविच्छिन्नता बनी रहती है। तात्पर्य यह है कि उत्तराधिकारी तथा वंशागति यहाँ दोनों एक ही होते हैं। यथार्थतः अविच्छिन्न रहनेवाली वस्तु 'लक्षण' नहीं है क्योंकि शेक्सपियर के शब्दों में लक्षण तो पित्रागत 'प्रकृति' तथा उचित 'वातावरण' (पालन-पोषण

एवं शिक्षण) का परिणाम है। प्रोस्पेरो ने कैलिबन के बारे में कहा था—"शैतान, जन्म-जात शैतान जिसकी प्रकृति को पालन-पोषण एवं शिक्षा कभी नहीं बदल सकती।"[1] जनित्र कोशिका की वंशावली में अविच्छिन्न रहनेवाली वस्तुएँ "कारक", "निश्चायक" अथवा "जीन" (genes), जीवद्रव्यीय विभिन्नताएँ हैं जो आद्य अंग अथवा विभिन्न लक्षणों की उत्प्रेरणा के वाहन हैं। यह भी देखा जाता है कि ऐकिक लक्षण के कारक के भी अपने आप को व्यक्त करने के लिए बहुधा विशेष प्रकार के वातावरण की आवश्यकता होती है। हम अपनी श्रेणियों की अमूर्तता को भूलकर अपने आप को भ्रांति में डालने के आदी हो गये हैं। वास्तव में हम जीवित प्राणी की, उसके विशेष वातावरण से अलग कल्पना भी नहीं कर सकते। विकास दाय के संघटकों का नाम है तथा इस उत्तराधिकार के उपयोग के लिए भी विशेष वातावरण की आवश्यकता होती है।

अपने निजी शारीरिक व मानसिक गुणों वाले वयस्क प्राणी की रचना में, सर्वदा तीन दैव (भाग्य) अथवा कारक महत्त्व के होते हैं। प्रथम एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आनुवंशिकता अथवा संतान को माता-पिता एवं पूर्वजों से सम्बन्धित रखनेवाला मांस व रुधिर का सम्बन्ध है। द्वितीय वातावरण है जिसमें भोजन व सूर्य के प्रकाश से लेकर पाठशाला एवं मित्रों के, सब प्रकार के पारिपार्श्वक प्रभाव आते हैं। तृतीय हैं हमारे प्रकार्य—हमारी आदतों की उपस्थिति व अनुपस्थिति, हमारा कार्य तथा खेल-कूद, हमारा व्यायाम व विश्राम क्योंकि कुछ प्रकार्यों का न करना भी हमारे शरीर व मस्तिष्क को उसी प्रकार प्रभावित करता है जैसे कुछ करना। ये तीन कारक हैं, परन्तु वैज्ञानिक विश्लेषण तथा सार्वजनिक सुविधा के अतिरिक्त इनको पृथक् मानना भी भूल होगी।

मूलभूत तथ्य तो एक विशिष्ट संगठन का बने रहना है जिसमें हमारे प्रकरण में केवल कशेरुकी लक्षण, स्तनधारी लक्षण, व मानव लक्षण ही सम्मिलित नहीं होते, वरन् जाति एवं वंश की अधिक उपरिष्ठ व नवीन विशिष्टताएँ भी आती हैं। जरायुज स्तनधारी जीव में जन्म के समय ऐसी अनेक विशिष्टताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो यथार्थ में उसकी वंशागति का भाग नहीं होती। वे गर्भावस्था में माता के पोषण, शिक्षण व वातावरण के परिणामस्वरूप होनेवाले संपरिवर्तन हैं। हमें वंशागित तथा ऐसे आघात चिह्नों अथवा प्रभाव को पृथक्-पृथक् पहिचानने में भूल न करनी चाहिए जिन्हें व्यक्ति अपने प्रकार्य व वातावरण की विशिष्टता के कारण उपार्जित करता है। इनका

1. A devil, a born devil, on whose nature nurture will never stick.

वंशान्तरित होते रहना स्वयं बड़ा भारी प्रश्न है। परन्तु सामान्यतः निष्कर्ष यह निकलता है कि हमारी वंशागति में ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं जिन्हें हम घटा, बढ़ा नहीं सकते। हम उनसे केवल व्यापार कर सकते हैं अथवा हद से हद उनको ब्याज पर चला सकते हैं।

भूत वर्तमान में जीवित रहता है और यही आनुवंशिकता का अर्थ है, तथा इस भाग्यवादिता का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। परन्तु इसका भाग्य पक्ष ही पूर्ण सत्य नहीं है। अच्छे गुणों व दुर्बलताओं का स्थिरीकरण साथ ही साथ होता है; वास्तव में संगठनशील गुणों में विघटनशील गुणों से अधिक स्थायित्व शक्ति होती है। आनुवंशिक रोग कम ही होते हैं। इसके अतिरिक्त आनुवंशिक जड़ता भी होती है व पूर्ण आनुवंशिक समानता लाने की प्रवृत्ति भी होती है, पर आनुवंशिक (जनन) सम्बन्ध ऐसा है कि उसमें नवीन शुरुआतों तथा विभिन्नताओं के लिए द्वार सदा खुले रहते हैं। जनित्र द्रव्य परिवर्तन विरोधी होते हुए भी परिवर्तन का स्रोत है। विकास सर्जनशील होता है। और नवीनता का अविच्छिन्न आविर्भाव होता रहता है। तीसरे, वंशागति का प्रत्येक पद स्वयं को पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए उचित पालन-पोषण एवं वातावरण चाहता है। आनुवंशिक तत्त्व ऐसे बीज के समान है जिसे उचित रीति से विकसित होने के लिए सूर्य का प्रकाश, वर्षा एवं उचित भूमि मिलनी चाहिए। यह वातावरण बहुत हद तक हमारे नियंत्रण में है––पालने में व उससे भी पहले से लेकर पाठशाला व उसके बाद––जिससे कि अपचयकारी अथवा प्रतिवर्ती कली सम्भवतः सुप्त रखी जा सकती है, तथा आशाजनक कली को उदारता से खिलने के लिए उत्साहित किया जा सकता है। यह किसी सीमा तक व्यक्ति के लिए सहायक ही होगा और किसी भी अनुकूल वातावरण की उपस्थिति में आनुवंशिक प्रकृति में नवीन उन्नति का शुभागम कर जाति की भी सहायता करेगा। यह भी सम्भव है कि प्रकार्य व वातावरण में होने वाले सुधार-जनित्र द्रव्य में आशाजनक रूपान्तरण के लिए मुक्तिकारक प्रेरणा का कार्य करें। अन्त में हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य के लिए अद्वितीय मात्रा में भूतकाल के लाभों का बाह्य पंजीकरण होता है। संस्थाओं व परम्पराओं, साहित्य तथा कला में तथा स्वयं समाज के संघटन में प्रगति का एक अजीवी स्थिरीकरण होता है। यह मनुष्य को विकास की सीढ़ी पर नीचे की ओर फिसलने से रोकने तथा ऊपर की ओर चढ़ने के लिए प्रवृत्त करने में बहुत सहायक होता है। वास्तव में सामाजिक उत्तराधिकार का महत्त्व उसी अनुपात में सर्वोपरि है जिस अनुपात में प्राकृतिक वंशागति की मौलिकता। और इस भाँति मनुष्य जीव-द्रव्य के अवरोधों को भेद जाता है।

अध्याय १६

आदतों व वातावरण का प्रभाव

व्यक्ति और जाति से सम्वद्ध विशिष्टताओं को आदतें और वातावरण किस सीमा तक प्रभावित कर सकते है, यह मानव जाति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। यह सब मानते हैं कि वे व्यक्ति पर अपनी छाप छोड़ते है, परन्तु उनके प्रभावों की सीमा अनिश्चित है। एडिनबरा के प्रसिद्ध शल्य चिकित्सक डा० जोसेफ बेल (Joseph Bell) के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे अपने विद्यार्थियों के सम्मुख रोगियों के निवास-स्थान और व्यवसाय की इस प्रकार भविष्यवाणी कर दिया करते थे--"यह एयरशायर का जूता बनाने वाला है", "यह फ़ाइफ़ में रहने वाला लोहार है" और "यह एवरडीन का ग्रेनाइट का कारीगर है।" हर हालत में व्यवसाय तथा वातावरण के कारण कुछ ऐसे चिह्न बन जाते हैं जिन्हें अनुभवी लोग पढ़ सकते हैं।

यही वात पौधों व प्राणियों में भी देखी जाती है। वृक्षों की शाखाओं का किसी विशिष्ट दिशा में बढ़ना, वायु के प्रवाह की दिशा के कारण होता है; जलधनिये की पत्तियों के पिंडक अथवा सूत्रों में कटे होने से यह पता चला जाता है कि पौधा किसी सरोवर से लाया गया है या मिल लेड (mill-lade मिल जलाशय) से। तराई से पहाड़ों पर ले जाये गये पौधों में वाह्य त्वचा मोटी हो जाती है और उन पर रोमों की संख्या वढ़ जाती है। इसी भाँति तीन साल अन्धकार में रखी गयी सुनहरी मछलियों के दृष्टिपटल की शलाका एवं कोण नष्ट हो जाते है तथा मछलियां अन्धी हो जाती हैं। जिन जल-घोंघों को व्यायाम के लिए काफी स्थान नहीं मिलता, वे छोटे रह जाते हैं। जिन श्वेत चूहों को ६ मास तक बहुत क्रियाशील रखा जाता है उनके हृदय, जिगर तथा वृक्क-जैसे अंगों में बीस प्रतिशत भार की वृद्धि हो जाती है। प्रकार्य तथा वातावरण की विशिष्टताओं के प्रत्यक्ष फलस्वरूप वैयक्तिक जीवमें होनेवाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में कोई संशय नहीं है।

परिवर्तन अथवा उपार्जित लक्षण वास्तव में परिणाम नहीं, वरन् आघात चिह्न हैं, अन्तर्जात नहीं वरन् वहिर्जात हैं, वे अन्दर से उत्पन्न होने वाली मनोभिव्यक्ति न होकर

बाहर से पड़ने वाली छाप हैं। उनको सजीव की देह में होने वाले परिवर्तन कहा जा सकता है जो उसके जीवन काल में प्रकार्य पोषण तथा वातावरण की उन विशिष्टताओं द्वारा उत्प्रेरित होते हैं जो जीव-सुलभ लचीलापन छोड़ देती है और इस तरह उन विशिष्ट अवस्थाओं के समाप्त हो जाने पर भी बनी रहती हैं। वे भ्रूणीय विभिन्नताओं तथा उत्परिवर्तनों से भिन्न होती हैं—वे उन जनन-कोशिकाओं में होने वाले नवीन क्रमचय तथा संचय के परिणाम हैं जो आगे जाकर व्यक्ति का रूप धारण करती हैं।

रूपान्तर के आवर्त्तन के सम्बन्ध में कोई संशय नहीं है। व्यक्ति के लिए उनका बहुत अधिक महत्त्व है। कभी-कभी तो वे जीवन-रक्षक भी हो जाते हैं। कुछ ही महीनों में हड्डियों का ढाँचा लगने वाला शिशु मोटा ताजा, प्रसन्न, सुन्दर बालक हो जाता है। अविकसित शरीर और मन वाले शिशु का थाइरोयड के उपचार द्वारा चामत्कारिक रूपान्तर किया जा सकता है। जैसा सर विलियम ओसलर (William Osler) ने बताया है, "छः सप्ताह के अन्दर तुच्छ दुर्बल मस्तिष्क वाला भेक-सदृश हास्यजनक मानव-ढाँचा, शारीरिक व मानसिक दृष्टि से स्वस्थ हो सकता है।" रूपान्तरों के अधिकतर उपयोजित और सामान्य हो जाने के कारण यह आश्चर्यजनक प्रतीत नही होता कि लगभग एक पीढ़ी पहले सुधरे हुए 'वातावरण' द्वारा मानव जाति की उन्नति के बारे में अतिशयोक्तिपूर्व आशा व्यक्त की जाने लगी थी। इस आशा के पूर्ण न होने की प्रायः तीव्र प्रतिक्रिया हुई है, जिसके कारणों पर विचार करना यहाँ उपयोगी होगा। प्रथम कारण है भ्रूणीय अविच्छिन्नता के विचार का प्रभाव। मादा कुक्कुट का अण्डा उत्पन्न करना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना निषेचित अण्ड-कोशिका का मादा कुक्कुट को जन्म देना और उसका फिर अण्डे देना। दूसरे, वैयक्तिक रूपान्तरों के आनुवंशिक स्थिरीकरण के प्रमाण केवल उपाख्यान ही निकले। तीसरे, यह पता चला कि वंशागति के बहुत-से संघटक ऐकिक लक्षण हैं जो कठोर, स्पष्ट तथा अमिश्रित मेन्डेलियन लक्षण हैं, जो या तो स्पष्ट उपस्थित रहेंगे या पूर्णतः अनुपस्थित होंगे। यह बात केवल, सभी उंगलियों के अंगूठे के समान होने जैसी विचित्र विशिष्टता (जो कम-से-कम छः पीढ़ियों तक बनी रहती है) के सम्बन्ध में ही सत्य नहीं है, बरन् आँखों के रंग के सदृश साधारण गुणों के आनुवंशिक होने के सम्बन्ध में भी सत्य है। इसी कारण आनुवंशिकता की निश्चलता की धारणा दृढ़ हो गयी है और वहुत-से लोग तो यकायक इस निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं कि आदतों तथा वातावरण की विशिष्टताएँ व्यक्ति में रूपान्तर लाने से अधिक कुछ नहीं कर सकतीं तथा जाति में ये स्थिर नहीं होतीं। परन्तु कहानी यहीं नहीं पूरी हो जाती है।

प्रथम एवं स्पष्ट कहने योग्य बात यह है कि यदि पोषण व शिक्षण की विशेषताओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुई उपयोगी विशिष्टताओं का आनुवंशिक स्थिरीकरण नहीं होता तो इस बात का ख्याल रखना और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि आगे की प्रत्येक संतति में वे गुण फिर आ सकें। यह अधिक महत्त्व का इसलिए भी है, क्योंकि प्रभावी रूपान्तर जीवन-रक्षक-आवरण का कार्य उस समय तक करता है, जब तक कि सुयोग से उसी भाँति की जन्मजात विभिन्नता उत्पन्न न हो जाये। सूर्य की किरणों द्वारा त्वचा का कृत्रिम रंग-परिवर्तन उस समय तक बहुत उपयोगी रूपान्तर हो सकता है जब तक कि प्राकृतिक कालेपन की उत्पत्ति न हो जाये।

दूसरे, यदि किसी रूपान्तर का पूर्णतः अथवा थोड़ा-सा स्थिरीकरण न हो तो भी वह अप्रत्यक्ष अथवा समपार्श्विक रूप में जनित्र-कोशिका को विषाक्त, दुर्बल अथवा सशक्त बना सकती है। यदि चूहों को बार-बार श्वांस के साथ अथवा भोजन में एल्कोहल की कुछ मात्रा दी जाये तो जनित्र-कोशिका पर हानिकर प्रभाव होता है। यह सम्भव है कि अनुपचित एल्कोहल उनके सम्पूर्ण शरीर में संतृप्त होकर शरीर के साथ ही जनित्र कोशिका को प्रभावित करता हो। यदि पोषण व शिक्षण की विशेष स्थिति में उत्पन्न हुई विशिष्टताएँ अपने आप जनित्र-कोशिका में स्थिर हो जाती हैं तो जितने समय तक वे बनी रहती हैं उतने समय तक परिवर्धन को किसी विशेष रूप में प्रभावित कर सकती हैं। प्रोफेसर आगर (Agar) द्वारा पालित वाटर फ्लीज़ (water-fleas) के कवच-कपाट ऐसी ही विशेष अवस्थाओं में पीछे की ओर मुड़ गये। अण्डाशय में अण्डों के प्रकट होने और कुछ वृद्धि पा जाने के पश्चात् परिवर्तित वैयक्तिक प्राणियों को जल में छोड़ दिया गया। इनसे उत्पन्न हुए अण्डों से बने प्राणियों में उनके माता-पिता के समान पीछे की ओर मुड़े हुए कपाट पाये गये। परन्तु जब माता-पिता ने फिर अण्डे दिये तो उनमें वह असामान्य प्रभाव बहुत कम अंशों में पाया गया और तीसरी बार के अण्डों में तो यह विशेषता पूर्णतः लुप्त हो गयी। सम्भवतः विशेष पोषण एवं शिक्षण से कुछ विशिष्ट **अजीवी चयापचयी सृष्टों** की उत्पत्ति हो सकी। इसमें से कुछ अण्डे के कोशिका-द्रव्य में समाविष्ट होकर अण्डे से विकसित होनेवाले शरीर में चले गये और उनमें वही असामान्यताएँ उत्प्रेरित कर दीं जो मौलिक रूप में माता-पिता में उत्पन्न हुई थीं। यही सम्भव व्याख्या है।

यूरोप से रीयूनियन (Reunion) में ले जाकर लगाये गये आड़ू के वृक्षों की कहावत इसी प्रकार है। कुछ समय पश्चात् वे सदा-बहार बन गये, कुछ तो वर्षों में व अन्य बीस वर्ष में। इसके पश्चात् संपरिवर्तित सदा-बहार पौधों के कुछ बीज एक पहाड़ी

प्रदेश में बोये गये और उनसे विकसित होने वाले पौधे भी सदा-बहार निकले। क्या यह उपार्जित लक्षण (संपरिवर्तन) का स्थिरीकरण नहीं है ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर देने के लिए हमें यह स्मरण रखना होगा कि बीज जनित्र-कोशिका नहीं है, वरन् एक बाल पौधा है जो बहुत समय तक माता-पिता के सम्पर्क में रहता है। यह माता-पिता द्वारा उत्पन्न किये गये रासायनिक पदार्थों अथवा चयापचयी संघटकों से पूर्ण रहता है जो बोये हुए आड़ू के सदा-बहार लक्षण का कारण हो सकते हैं। इसी प्रकार जरायुनाल वाले स्तनधारी में गर्भिणी माता के रासायनिक क्रम का व्यतिक्रम घनिष्ठ सहजीवन के कारण संतति को प्रभावित कर देता है, यद्यपि वास्तविक अर्थ में आनुवंशिक रूप में नहीं। इसी भाँति जैसा वेरबर (Werber) ने बताया है, माता में ब्यूटिरिक अम्ल (Butyric acid) की उत्पत्ति संतति के दैत्याकार होने का कारण हो सकती है। स्तनधारियों में पालन-पोषण, शिक्षण का प्रभाव जन्म से पहले होने लगता है और जब हम एक व्यक्ति या एक सहस्र व्यक्तियों के बारे में यह पता लगाने की कोशिश करते हैं कि कौन लक्षण आनुवंशिक प्रकृति के कारण उत्पन्न होते हैं और कौन-से वातावरण या आहार-पोषण के कारण तब यह बात ध्यान में रखनी होती है।

परन्तु एक दूसरी दृष्टि से भी प्रकार्य व वातावरण बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। प्रौढ़ (वयस्क) का प्रत्येक गुण भ्रूणीय 'कारक' तथा उचित वातावरण (पोषण व शिक्षण) का परिणाम होता है। मेण्डेलियन सिद्धान्त के अग्रणी प्रयोगकर्ता प्रोफेसर टी० एच० मौर्गन (Professor T. H. Morgan) के कथनानुसार "किसी लक्षण के विकास के लिए, वातावरण की आवश्यकता सामान्य बात है तथा लक्षण भी उपलब्ध वातावरण के अनुकूल विभिन्न हो सकते हैं।" वंशागति को हम कलिकाओं के गुच्छे के समान समझ सकते हैं, अण्डे के निषेचन के पश्चात् इनकी संख्या बढ़ायी या घटायी नहीं जा सकती। परन्तु बुरे लक्षणों का पोषण न करके उन्हें सुषुप्त रखा जा सकता है; अच्छों को पोषण न मिलने पर सुन्दर लक्षण भी शक्तिहीन रूप में अभिव्यक्त होता है; अच्छों का उदारता से पोषण करके उनका ओजपूर्ण विकास किया जा सकता है। इथोपिया में रहने वाला व्यक्ति अपनी त्वचा को नहीं बदल सकता, परन्तु उन्नत पोषण व शिक्षण के द्वारा खेतों व उद्यान, पाठशाला तथा महाविद्यालय में आश्चर्यजनक परिवर्तन किये जा सकते हैं। शूकरी के कानों से आप रेशम का बटुआ नहीं बना सकते, परन्तु फिर भी परिस्थितियों का महत्त्व होता है। मिस्टर बीब (Mr. Beebe) ने अपने कुछ बोबोलिंक (bobolinks) पक्षियों को इस भाँति रखा कि वे अपने प्रजनन-पक्षों को वर्ष भर बनाये रख

सकें तथा वसन्त के गाने क्रिसमस के समय भी गा सकें। इसी भाँति भगवान् जिन्हें स्नेह करता है वे उम्र ज्यादा होने पर भी युवा रहते हैं।

वनस्पति-गृहों में बहुतायत से दिखने वाले लाल चीनी प्रिमरोज़ (Red Chinese primrose) में १५-२०° सें० पर रखने से लाल पुष्प उत्पन्न होते हैं, परन्तु यदि उसी पौधे को आर्द्रता तथा छाया में ३०°–३५°सें० में रखा जाय तो पूर्णतः श्वेत पुष्प निकलते हैं। कुटी हुई गलग्रन्थि के आहार पर पालित बैंगची के सामान्य लक्षण तो रहते हैं परन्तु वे बौने बने रहते हैं। बाल्य ग्रन्थि और प्लीहा के आहार पर पाले गये बैंगची बिना किसी प्रकार की वृद्धिहीन बच्चों-जैसी जटिलता के बढ़ जाते हैं। डलमेशियन गुफाओं के अंधेरे झरनों में रहने वाली प्रोटियस (Proteus) की त्वचा में वर्णिक (रंग) नहीं होता और कोई भी इससे तुरंत इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि वंशागति में इसका वर्णक संघटक कहीं रह गया है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है और यह बात हमें अधिक सावधान रहने का पाठ पढ़ाती है। यदि प्रोटियस को गुफा से निकाल कर सामान्य प्रकाशित मत्स्य-गृह में रखा जाये तो वह फोटोग्राफिक-प्लेट की भाँति तीव्र संवेदनशील हो जाती है। पहले उस पर धब्बे उत्पन्न होते हैं, फिर रंग गहरा होता जाता है। यदि वह नवीन वातावरण में ही संतति उत्पन्न करता है तो उनका भी रंग गहरा होता है और उनके गुफा में ह्रासग्रस्त नेत्र अधिक अंश तक विकसित हो जाते हैं। क्या अन्धकार में रहने वाले अपने साथियों के सम्बन्ध में शीघ्रता से हमारा यह कहना अनुचित नहीं है कि उनमें यह कमी है, वह कमी है? सम्भवतः प्रोटियस की भाँति ही उनको उचित मुक्तिकारक प्रेरकों की आवश्यकता होती है और यह विचार व्यक्ति के स्वभाव तथा वातावरण को नवीन महत्त्व दे देता है।

इन स्पष्टतः पूरक कारकों को एक दूसरे के विपरीत मानना भूल है। सागर-तट पर लहरों की रचना का सबसे अधिक श्रेय जल को दें या वायु को? यदि एक परिणाम के लिए दो कारकों की आवश्यकता है तो क्या इसका कोई महत्त्व है कि हम किसे अधिक महत्त्वपूर्ण कहें? कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिनमें कोई परिवर्तन नहीं होता, परन्तु साधारण प्राणी इच्छानुसार ढालने योग्य ही होता है। व्यक्ति अच्छे व बुरे दोनों ही प्रकार के परिणामों के लिए परिवर्तनशील है, यह प्रयोग-सिद्ध तथ्य है जिसकी सीमाएँ अभी तक अनिर्धारित हैं। परन्तु व्यक्ति की यह परिवर्तनशीलता जाति को प्रभावित कर सकती है या नहीं, यह दूसरा प्रश्न है जिसकी व्याख्या अभी नहीं हो पायी है।

अध्याय १७

नवीन का उद्‌गमन

परिवर्तितता—हम में गलत जगहों पर आश्चर्यचकित होने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। यदि किसी गाय के दो सिरों अथवा सामान्य से अधिक पिछली टाँगों वाला बच्चा जन्म लेता है तो देश भर के समाचार पत्रों में यह खबर प्रकाशित हो जाती है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि सामान्य बछड़ा ही अधिक आश्चर्यजनक है। हम श्वेत 'ब्लैक बर्ड' चिड़िया अथवा बिना दुम वाले बिल्ली के बच्चे को आश्चर्य से देखते हैं, परन्तु अनवरत रूप से जिन नवीनताओं का उद्‌गम हो रहा है उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। निस्संदेह बहुत-से ऐसे सनातन (रूढ़िवादी) प्राणी भी हैं, जिनमें से कुछ के कठोर अवयव आज भी वैसे ही बने हुए हैं; जैसे लाखों वर्ष पूर्व चट्टानों में दबे उनके पूर्वजों के पाये जाते हैं; परन्तु यह बात अधिकांश प्राणियों के बारे में सत्य नहीं है। जीवित प्राणी में बराबर परिवर्तन होता रहता है। संतति में माता-पिता के समान होने की प्रवृत्ति होती है। एक दृढ़ प्रवृत्ति है जो विशिष्ट संघटन (लगभग पूर्णतः आनुवंशिक समानता) को बनाये रखना चाहती है, परन्तु साथ ही एक दूसरी दृढ़ प्रवृत्ति भी है जो नवीनता के प्रति सजग होती है, चाहे वह साधारण लीक से विचलन हो अथवा स्पष्ट उत्परिवर्तन। आनुवंशिकता गति के प्रथम नियम के समान है तथा परिवर्तितता दूसरे नियम के समान।

परिवर्तितता के उदाहरण—एक जीवाणु एकाएक अपनी प्रकृति परिवर्तित कर सकता है। दो बिलकुल समान नर रफ कबूतर (ruffs) पाना कठिन है; लैमार्क के ईवनिग प्रिमरोज़ (Evening Primrose) लगभग आधी दर्जन नवीन जातियों का आविर्भाव कर चुके हैं। कभी-कभी एकाएक कोई बिना सींग की गाय का बछड़ा अथवा किसी शुतुरमुर्ग के उड़ने के काम में न आने वाले पंखों पर दो अतिरिक्त पक्ष दिखाई देते हैं। गिलमौट्स (Guillemots) के अण्डों में पचास विभिन्न प्रकार के रंगों का पाना कठिन नहीं हैं, तथा एक दर्जन प्रकार के आवरण वाले समुद्री बाल केकड़े भी देखे जा सकते हैं। समस्त पालतू कबूतर जंगली चट्टान पर रहने वाली

डोव (rock dove) के तथा समस्त उगायी जाने वाली पत्ता-गोभियाँ जंगली सीकेल (sea kale) के परिवर्तित रूप हैं। कभी-कभी पूर्णतः अप्रत्याशित रूप से किसी परिवार में सम्पूर्णतः स्वस्थ व बहुत ही बुद्धिमान् बौना उत्पन्न हो जाता है, दूसरे परिवार में संगीतज्ञ, तथा तीसरे में गणना करने में दक्ष लड़का पौधों में एक लाल बीच (copper beech), कटी हुई पत्तियों वाला बड़ा सेलैन्डीन (celandine) तथा बेदे-मजनूँ (weeping willow) परिवर्तितता के उदाहरण हैं तथा स्थान व समय हो तो इन तीन उदाहरणों के स्थान पर तीन सौ उदाहरण दिये जा सकते हैं। अंगोरा (Angora) खरगोश, नाचनेवाला चूहा, काले धब्बे वाला शलभ, काला सूगर बर्ड (sugar bird), नयी प्रकार का आलू वाला गुबरैला तथा श्वेत चूहा प्राणियों में परिवर्तितता के उदाहरण हैं, और यदि स्थान व समय हो तो इन सात के स्थान पर ऐसे सात सौ उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। परिवर्तितता जीवन का मुख्य तथ्य है।

रूपान्तर——वातावरण, भोजन व स्वभाव की विशिष्टताओं के प्रत्यक्ष फल स्वरूप, व्यक्ति की शारीरिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों के कुछ उदाहरण हमने पिछले अध्याय में दिये हैं। ट्राउट मछलियों (Trout) को श्वेत फर्श के मछली-घर में रखने पर उनका रंग हलका और काले फर्श वाले मछलीघर में रखने से उनका रंग गहरा हो जाता है। इसे अस्थायी वैयक्तिक समायोजन कहते हैं और इसका कारण यह है कि ट्राउट मछली की त्वचा की गहरे रंग वाली अस्थिर वर्णक कोशिकाएं केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र के नियंत्रण में रहती हैं जो अपने चारों ओर की चमक (रोशनी) से सहज प्रभावित हो जाता है, प्रकाश की स्थिति के अनुसार इन कोशिकाओं का संकुचन तथा प्रसरण होता रहता है। जब ट्राउट मछलियों को श्वेत फर्श वाले मछलीघर में बाल्यकाल से पाला जाता है तो बड़ा होने पर उनमें काला वर्णक कम हो जाता है; परन्तु काला फर्श होने पर उनका रंग गहरा हो जाता है। यह स्थायी व्यक्तिगत रूपान्तर कहलाता है। यदि हमें इस बात का निश्चय हो जाये कि हलके रंग की ट्राउट की संतति उस समय भी हलके रंगकी होगी जब मछली-घर का फर्श श्वेत न हो, अथवा गहरे रंग की ट्राउट की संतति मछली-घर के फर्श के काले न होने पर भी गहरे रंग की होगी, तो इससे रूपान्तरों का वंशान्तरण निर्दिष्ट होगा। परन्तु हम इस सम्बन्ध में निश्चित नहीं हैं।

नवीन का उद्गम——यदि व्यक्तियों पर अंकित विशिष्टताएँ संतति में ज्यों की त्यों अथवा किसी प्रामाणिक रूप में वंशान्तरित नहीं हो जाती तो नवीन परिवर्तन कैसे होते हैं ? जातियाँ कैसे नवीन हो जाती हैं ? पुराने मार्ग से पृथक् होकर कैसे वे नवीन

पथ पर अग्रसर होती हैं ? उन्नति कैसे हो सकती है या हुई है ? यह स्वाभाविक प्रश्न है, परन्तु सम्भवतः यह किसी नवीन प्रकार के उद्गम के प्रश्न को नहीं छूता। इस विचार धारा के अनुसार मादा कुक्कुट अण्डे में या छोटे बच्चे में परिवर्तन लाती है, जबकि सम्भावना यह अधिक है कि अण्डा ही उस मादा कुक्कुट में, जिसको वह जन्म देती है, परिवर्तन कर देता है। दूसरे शब्दों में विभिन्नताओं अथवा नवीन रूपान्तरों का भ्रूणीय उद्गम होता है, और ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे माता-पिता द्वारा सहे गये किन्हीं आघातों के अवशेष हैं या माता-पिता द्वारा किये गये अभ्यासों अथवा प्रयत्नों के कारण हैं।

फिर नवीनताओं की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? जनित्र-कोशिकाओं में बहुत बड़ी संख्या मे गुणों के अदृश्य प्रतिनिधि रहते हैं, जो विकास के दौरान प्रकट होते हैं। ये 'कारक', 'नियामक' अथवा 'जीन' कहलाते हैं और उनमें से बहुत-से (यदि सब नहीं) अण्ड कोशा अथवा शुक्राणु कोशा के नाभिक में या अभिरंजन योग्य सूक्ष्म शलाका अथवा गुण-सूत्र में रहते है। ड्रोसोफ़िला (Drosophila) नामक फल-मक्खी में इनकी संख्या लगभग ७५०० होती है और यद्यपि ये अदृश्य होते हैं तो भी जनित्र कोशिका को अणुवीक्षण यंत्र से देखने में उनके वास-स्थान के सम्बन्ध में हम कुछ तो जान ही लेते हैं। हमें उनको उन पत्रों के समान मान लेना चाहिए जो वंशागति रूपी गड्डी में रहते हैं। पत्तों के फेंटने से विभिन्नताएँ उत्पन्न होती हैं। जनित्र कोशिका के वयस्कता प्राप्त करते समय इनका फेंटना (संचालन) महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि उस समय गड्डी दो भागों में विभक्त हो जाती है और अण्ड-कोशिका में केवल आधे ही पत्ते प्रयोग में आते हैं। नवीन जीवन के प्रत्येक उद्भव के समय शुक्राणु-कोशिका द्वारा अण्ड-कोशिका का निषेचन होने पर दूसरा महत्त्वपूर्ण फेंटना होता है क्योंकि उस समय दो अर्द्ध-गड्डियां एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं। दो पूर्ण वंशागतियाँ—पिता की व माता की—मिलकर एक नवीन रचना करती हैं।

दूसरी सम्भावना यह है कि शरीर में गहनता से संतृप्त होने वाले परिवर्तन—जो मौसम, भोजन, उपयोग व अनुपयोग से सम्बन्धित हों—जनित्र कोशिकाओं में प्रवेश कर नवीन व्यवस्था की प्रेरणा उत्पन्न कर सकते हैं। और जिस भाँति कभी-कभी हम सृप-अनुप्राणी (Slipper animalcule) जैसे एककोशी जीव में सूक्ष्म विन्यासों का लगभग स्वेच्छानुरूप पुनर्विन्यास एवं पुनःसंघटन देखते हैं, उसी प्रकार जनित्र कोशिकाओं में भी, जो एककोशीय उपलक्षित सजीव होते हैं, लगभग स्वेच्छानुरूप पुनर्विन्यास एवं पुनःसंघटन हो सकते हैं, जिनका परिणाम स्पष्टतया नवीन का

उद्गम होता है। सम्भवतः जनित्र कोशिकाएं आत्माभिव्यक्ति के लिए अनेक अचेतन प्रयोग करती हैं। जीवशास्त्र में यह सबसे कठिन प्रश्न है एवं इस सम्बन्ध में हम सत्य का अनुमान ही लगा सकते हैं।

ऋण चिह्नयुक्त परिवर्तन—बहुत-से नवीन परिवर्तन हानिकर होते हैं। वे संघटनशील होने के स्थान पर विघटनशील एवं उन्नतिशील होने के स्थान पर ह्रासकारी होते हैं। कुछ में शरीर व मस्तिष्क को गम्भीरता से व्याघात पहुँचाने योग्य जन्मजात संरचनात्मक विलक्षणताएँ होती हैं; कुछ में अन्य घातक लक्षणों वाले अनावश्यक प्रभावों द्वारा व्याघात होने की ओर झुकाव होता है। प्रगति की नवीन दिशा से लगता है कि इस जन्मजात व भ्रूणीय प्रवृत्ति अथवा सहज प्रभावशीलता की रासायनिक व्याख्या भी दी जा सकती है।

फिर भी यह समझ लेना चाहिए कि शरीर की बहुत-सी असामंजस्यताओं की व्याख्या उन दोनों के रूप में नहीं की जा सकती जिनको हमारे शरीर ने उत्तराधिकार में पाया है। वे अस्वस्थ वातावरण अथवा हानिकर स्वभाव एवं वास, अथवा अपूर्ण आहार (जो कम भोजन मिलने की स्थिति से भिन्न है) अथवा शरीर में अनधिकार प्रवेश करने वाले जीवाणुओं के विषैले प्रभावों के कारण होती हैं। थोड़े से बाह्य परागकणों के प्रवेश से उत्पन्न व्याघाती प्रभाव का उदाहरण सुपरिचित दमा की बीमारी है, इस दुखदायी रोग का उद्दीपक कारण पराग मिश्रित वायु का श्वांस के साथ अन्दर आ जाना है।

धन चिह्नयुक्त परिवर्तन—परन्तु अभी तक हमने इस विषय के लाभकर पक्ष की चर्चा नहीं की। इन सब विवेचनाओं में हम अपूर्णताओं, दोषों व रोगों-जैसे हानिकर लक्षणों पर ही बल देने को उद्यत होंगे, क्योंकि तथ्य यह है कि व्यावहारिक लाभ के लिए इन्हीं बातों पर ही वैज्ञानिकों ने अधिक ध्यान दिया है। फिर भी प्रसन्नता इस बात की है कि व्यक्तिगत हानिकर परिवर्तनों के साथ-साथ लाभ कर परिवर्तन भी होते रहते हैं। परिवर्तिता प्रगतिशील व प्रतिगामी दोनों ही प्रकार की होती है। परिवर्तित मानवों का अनवरत उद्गम होता रहता है जिनमें यद्यपि सभी विलक्षण बुद्धिवाले नहीं होते, तो भी एक नवीन दृष्टिकोण (विचार), एक नवीन मानसिक स्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारी यह बहुत इच्छा है कि इन नवीन मानसिक व दैहिक विलक्षणताओं के प्रकट रूप में प्रगति शील होने पर, माता-पिता व शिक्षक इनमें निहित आशा को स्वीकार कर इन्हें प्रोत्साहन देंगे क्योंकि इन्हीं आशावर्धक दैहिक व मानसिक विलक्षणताओं से हमको प्रगति शील विकास की मूल सामग्री प्राप्त होती है।

अध्याय १८

वृद्धि और उसके तरंग-चिह्न

जीवित प्राणी का जीवन-वृत्तान्त आरोही वक्र के समान है। यह संसेचित अण्ड-कोशिका से प्रारम्भ होता है जिसका आकार अधिकतर उदाहरणों में आलपिन के सिरे से भी सूक्ष्म होता है। संसेचित अण्ड-कोशिका में बाद में विकसित होने वाला जीव सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता है, किसी तरह उसे एक-कोशीय जीव की अवस्था में निरूपित कर दिया गया है। यह संसेचित अण्ड-कोशिका बारम्बार विभाजित होती है तथा कोशिकाओं की गेंद अथवा थैली आदि बनती जाती है। यह प्रक्रिया श्रम-विभाजन अथवा विशिष्टीकरण का उदाहरण है। तात्पर्य यह है कि ऊपर से दिखने वाली सरलता से स्पष्ट-जटिलता का आर्विर्भाव होता है। दूसरे शब्दों में भ्रूण-जीव चाहे वह प्राणी हो या पौधा, अदृश्य को दृश्य, और अन्तर्निहित को प्रत्यक्ष कर अपनी वंशागति को व्यक्त करता है। वह अपने दाय का उपभोग करता है और इसे ही हम विकास कहते हैं। अण्डे में से भविष्य के वयस्क प्राणी के सूक्ष्म रूप अथवा डिम्भ जैसे किसी दूसरे ही रूप का आविर्भाव होता है जो रूपान्तरण की संकटमय प्रक्रिया से गुजरने के वाद पूर्ण विकसित लक्षणों से युक्त होता है। उसकी वृद्धि होती रहती है और युवावस्था के बाद वह प्रौढ़-अवस्था को पहुँच जाता है। कुछ काल के पश्चात् वह वक्र की ढाल पर पहुँचता है और वृद्ध होकर मृत्यु के पास पहुँच जाता है। जीवन-वृत्त के अनेक अध्याय हैं; यहां हम वृद्धि के सम्बन्ध में ही कुछ कहना चाहते हैं।

जीव में बुनियादी रूप में वृद्धि की सामर्थ्य होती है। इसका अर्थ जीव-शरीर अपनी मूल पूँजी बढ़ा सकता है। इसका तात्पर्य निर्जीव पदार्थों को उठाकर एक रमणीय जीव-वृत्त में समाहित कर लेना है। जीव-वृद्धि मणिभ की वृद्धि के समान नहीं होती क्योंकि मणिभ अपने ही सदृश पदार्थों को समाहित करते हुए बढ़ सकता है। फिटकरी का मणिभ फिटकरी के ही विलयन में वृद्धि करता है, परन्तु घास, वायु, जल तथा लवण समाहित करते हुए बढ़ती है और भेड़ का बच्चा, शैशव बीतने पर घास खाकर बढ़ता है।

जीव जमीन पर लुढ़के हुए बर्फ के गोले पर बाहरी आर्द्रता के आकर जमते जाने की तरह भी नहीं बढ़ता। वह नवीन पदार्थों को सक्रिय रूप से अपने आप में समाविष्ट कर लेता है। साथ ही उसकी वृद्धि भवन के निर्माण की भाँति पिछली प्रक्रियाओं द्वारा नियंत्रित होती है। पहले जो हो चुका है वह आगे होने वाले को प्रभावित करता है। जीवित प्राणी की वृद्धि बहुधा लयात्मक होती है, सतत बहुत ही कम होती है। एकाएक तेजी से वृद्धि होती है फिर कुछ देर के लिए रुक जाती है। कभी वृद्धि तीव्र गति से होने लगती है और कभी मन्द गति से। इस भाँति वृद्धि के तरंग-चिह्न उत्पन्न होते हैं, जो सजीव पदार्थ के सौन्दर्य को बढ़ाने में बहुत सहायक होते हैं।

२,१७१ वर्ष पुराना—आरी से कटे पेड़ के तने के वलय गिनना बालकों का मनोरंजक खेल है। यह समस्त जीवन के लिए स्थायी अनुभव होता है; प्रत्येक वर्ष एक पर एक स्तर चढ़ते हुए वृक्ष में वृद्धि होती है। संग्रहालय में कैलिफोर्निया के बड़े पेड़ों में से एक का कटा भाग देखा जा सकता है जो किसी भी दूसरे प्राणी से अधिक आयु का है। उनमें से एक पेड़ के तने के काटे जाने पर, उसमें २४२५ वलय दृष्टिगोचर हुए। जिसका अर्थ यह है कि उसका जीवन क्रिश्चियन सम्बत् के आरम्भ होने से ५२५ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था। दूसरा पेड़ जो लगभग ३०० फुट ऊंचा था २१७१ वर्ष पुराना था।

प्रोफेसर डव्ल्यू० आर० डडले (Prof. W. R. Dudley) ने लिखा है—"हमको उनके वार्षिक वलयों में ऐसे प्रमाण मिलते हैं जो ऐंग्लो-सैक्सन (Anglo Saxon) लोगों के प्रारम्भ ही नहीं, वरन् ग्रीक लोगों में स्वतंत्रता तथा प्रजातन्त्र के लिए हुए सबसे पुरातन युद्धों से भी पूर्व के हैं। इनमें दावानल, ऋतु-विपर्यय, अनावृष्टि व प्रचुर तथा लाभकारी वर्षा की अवधि का विवरण आज भी मिल जाता है।"

वृद्धि व ऋतुएँ—पेड़ के कटे हुए तने पर वलयों से हम उसकी आयु इस कारण बता सकते हैं कि वृक्ष पर ग्रीष्मान्त अथवा हेमन्त में चढ़ने वाले स्तर तथा वसन्त ऋतु में चढ़ने वाले स्तर में विभिन्नता होती है। ग्रीष्मान्त में बढ़े हुए स्तर में बहुत संख्या में मोटी भित्ति के काष्ठ-तन्तु होते हैं जिनमें छोटे-छोटे कोटर होते हैं; वसन्त में बढ़े हुए काष्ठ में पतली भित्ति के काष्ठ तन्तु और बड़े-बड़े कोटर होते हैं। वार्षिक वृद्धि में दोनों प्रकार के काष्ठ का एकांतरण दृष्टिगोचर हो जाता है एवं वलयों का गिनना भी सम्भव हो जाता है। इस ज्ञान के विशेषज्ञ हमें पेड़ के जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ बता सकते हैं, जैसे कि वन में लगी आग के द्वारा हुए एक घाव को नये ऊतकों से भरने में वृक्ष को सौ वर्ष लगे।

इस सदी में मछलियों के शल्कों के रूप में अंकित कथा को पढ़ने पर बहुत ध्यान दिया गया है। कुछ शल्कों को अन्य शल्कों की अपेक्षा सरलता से पढ़ा जा सकता है, जैसे सामन मछली के शल्क हैरिंग मछली के शल्कों की अपेक्षा सरल होते हैं। परन्तु यह कहना सामान्यतया सत्य है कि मछली अपने शल्कों के रूप में अपनी डायरी-सी रखती है। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि सामान्य अस्थिमय मछलियों के शल्क अन्तस्त्वचा अथवा चर्म के उत्पादन हैं, और वे पारदर्शी अथवा अंशत: रंगीन बाह्य त्वचा से ढके रहते हैं जो पृथक् होकर हमारी अंगुलियों व अंगूठों पर पतले कागज के समान आ जाती है।

वृद्धि के तरंग-चिह्न—यौवनकाल के पश्चात् मछली की नवीन शल्कें उत्पन्न नहीं होतीं, परन्तु प्रत्येक शल्क सुन्दर पारदर्शक कोशिकाओं के क्रमिक कटिबन्ध बनाकर, जिसमें वाइट्रोडेण्टाइन (Vitro-dentine) कहलाने वाला पदार्थ बनता है, अपना आकार बढ़ाती है। ग्रीष्म की समृद्ध अवस्थाओं में होने वाली वृद्धि, परिमाण तथा गुणों में शरद् ऋतु में होनेवाली बृद्धि से भिन्न होती है और इन दोनों की सान्तरता से मछली की आयु का अनुमान लगाना सम्भव हो जाता है। इसके अतिरिक्त वृक्षों की भाँति मछलियों में भी हम सरलता से हुई तथा कठिनाईयों के बीच हुई वृद्धि का समय बता सकते हैं। अथवा सामन मछली के प्रकरण में हम एक शल्क से यह बता सकते हैं कि कितने वर्षों तक प्रवाहित जल में रहने के पश्चात् मछली व्यग्र होकर समुद्र में चली गयी।

और इसी भाँति हम यह भी बता सकते हैं कि अण्डे देने के लिए अपने जन्म-स्थान नदी में आने से पूर्व कितने वर्ष समुद्र में रही। शल्क की समुद्र में होने वाली वृद्धि जहां कि सामन मछली अपनी अधिकतर जीवित पूँजी एकत्रित करती है, नदी में ोने वाली वृद्धि से भिन्न होती है और चूँकि प्रजनन व विशेषकर अण्ड जनन में शारीरिक संकट निहित होता है इस कारण यह आश्चर्यजनक नहीं है कि उसके प्रभावों का आलेखन शल्कों में पायें। एक शल्क के सूक्ष्मदर्शी परीक्षण द्वारा यह बताया जा सकता है कि कोई सामन अण्डे दे चुकी है अथवा अभी अक्षता है।

यदि उसने एक से अधिक बार अण्डे दिये हैं तो यह भी बताया जा सकता है। सामन मछली का अध्ययन उसके दैनिकी रखने (अथवा न रखने) के सम्बन्ध में बहुत बड़ा तर्क है। शल्कों के अध्ययन से उनके क्रमबद्ध जीवनवृत्त की बहुत-सी गूढ़ताओं का स्पष्टीकरण सम्भव होता है। यह ध्यान में रखने योग्य है कि किसी भी व्यक्ति को यह गूढ़भाषा ठीक से पढ़ने के लिए विशेष शिक्षा की आवश्यकता होती है। धैर्य व

दक्षदृष्टि के बिना जो लोग इस सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने लगते हैं उनसे कई गम्भीर त्रुटियां हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक बात यह है कि मछलियों के कान के अन्दर के कर्ण बालुका या ओटोलिथ के काटने पर उसमें मण्डलावृत्त-विन्यास दिखता है जिससे क्रमिक वर्षों का ब्योरा मिलता है; तथा कशेरुक के समान कुछ अस्थियों में भी वृद्धि वलय दिखते हैं। हमें आयु के सम्बन्ध में शल्कों के अतिरिक्त इन दो और भी स्थानों से प्रमाण प्राप्त हो जाते हैं। तीनों साक्षियों से प्राप्त जानकारी से हम सत्य का पता लगा सकते हैं। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सामन मछली-जैसे स्पष्ट दृष्टान्त कुछ संदिग्ध हैं।

रेखा के ऊपर रेखा—कवच का सौन्दर्य अंशतः उन एक-केन्द्रिक अथवा समानान्तर रेखाओंमें निहित रहता है जो सतह को प्रायः आच्छादित किये रहती है। और प्रायः इससे सम्बन्धित ही कुछ उड़े-उड़े या गहरे रंग होते हैं जो बहुत सुहावने होते हैं। ताजे पानी के शम्बुक के कवच पर अधिक उभरीं हुई रेखाएँ वर्ष बतलाती हैं तथा उनके बीच की हलकी रेखाएँ गौण कालों का निर्देश करती हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब जीव की अंग-वृद्धि एक के ऊपर एक रेखा अथवा एक बिम्बाणु के पश्चात् दूसरे बिम्बाणु के रूप में होती है तो इसकी भौतिक संरचना ऐसी हो जाती है कि उस पर रोशनी पड़ने पर इन्द्र धनुष के समान अथवा बहुवर्णभासी छटा दीख पड़ती है।

इसकी भौतिक-शास्त्रीय व्याख्याएँ कई प्रकार की हैं और मुश्किल हैं; परन्तु इस समय हम यह बताना चाहते है कि क्रमशः वृद्धि से सतह बहुत सुन्दर भौतिक रंगों की भी हो सकता है जैसा कि हम सीपी अथवा मोर पंख में देखते हैं। मोरपंख में नीला या हरा वर्णक नहीं होता, केवल एक भूरा-सा वर्णक होता है, परन्तु पंख की सतह पर की सुन्दर शिल्पकारी भौतिक कारणों से सुन्दर चमकदार हो जाती है; और सतह के लक्षण से पंख बढ़ने का ढंग ज्ञात होता है। बाज के पंख को सुन्दर रूप देनेवाली अर्गलाएँ, बड़े पैमाने पर उन परिवर्त्तनों को सूचित करती हैं जो पंख के बढ़ते समय रात-दिन रक्त-चाप के कारण हुआ करते थे।

बाल की वृद्धि—किसी संकट विशेष के प्रभाव के कारण कुछ लोगों की अंगुलियों के नाखूनों की वृद्धि कुछ विलक्षणता लिये होती हैं और यदि एक बाल को तेज प्रकाश में देखा जाये तो मालूम होगा कि उसकी वृद्धि रुक-रुक कर हुई है। इसकी सामान्य व्याख्या यह है कि वृद्धि के सतत न होकर आवर्ती होने के कुछ कारण हैं और इसके अतिरिक्त कुछ बाह्य प्रभाव भी है जिनके कारण वृद्धि रुक-रुक कर होती हैं। सम्भवतः वृद्धि के रुक-रुक कर होने का सबसे बड़ा कारण यह हो कि जीवन का अस्ति-शक्तित्व

एकत्रित होने व समाप्त होने, सामान भरने और खाली करने, प्रभरण व विस्फोटन होने, निर्माण और विघटित होने, तथा उपचय और अपचय में है। परन्तु वृद्धि नियमित कार्य है और इसका अंशतः नियंत्रण निःस्रोतग्रन्थि से निकलने वाले हारमोनों द्वारा होता है जिनकी सक्रियता कुछ अंशों में आवर्ती होती है। जहाँ तक बाह्य प्रभावों द्वारा वृद्धि के रुक-रुक कर होने का सम्बन्ध है वह दिन व रात, ग्रीष्म व शरद् ऋतुओं, ज्वार-भाटे व भोजन आदि अन्य चीजों पर निर्भर करता है।

सी-अर्चिन (sea-urchin) **के कांटे**—उथले जल के किनारे पाया जानेवाला सी-अर्चिन बड़ी नारंगी के बराबर आकार का गोलाकार प्राणी है। इसका अधिक भाग घने कांटों से ढका रहता है और इसी कारण इसे समुद्री शल्यक (Sea-Hedgehog, जंगली चूहा) का नाम दिया गया है। बड़े कांटे कन्दुक-उलूखल सन्धि (ball and socket joints) पर गतिमय होते हैं और सी-अर्चिन की गति में सहायक होते हैं। वे क्रमशः एक विशेष सीमा तक बढ़ जाते हैं और यह भी ज्ञात है कि यदि किसी जाल से रगड़ खाकर ये कांटे झड़ जायें तो सी-अर्चिन पर नये कांटे उग आते हैं। यदि कांटे को काट कर सूक्ष्मदर्शी यंत्र में देखा जाय तो बहुत ही विलक्षणता देखने को मिलती है। यह काट पेड़ के कटे हुए तने के समान होती है। इसमें बहुत ही सुन्दर आकृति के कटिबन्ध विन्यास होते हैं जिसमें धरन से पृथक् किये हुए एक के बाद एक छोटे-छोटे कोटरों के वलय होते हैं।

वलय वृद्धि-काल का संकेत करते हैं; वे वृद्धि के तरंग-चिह्न हैं। वे छिपे होते हुए भी केवल बहुत सुन्दर ही नहीं हैं, वरन् संरचनात्मक रूप से भी बहुत सुदृढ़ होते हैं। वे पदार्थ का नियंत्रण करते हैं और बिना शक्ति कम किये भार को कम रखते हैं।

हमने वृक्ष के तनों पर, मछलियों के शल्कों पर, मोलस्क के कवच तथा सी-अर्चिन के कांटों पर पाये जाने वाले वलयों और रेखाओं की चर्चा की है जिनमें हर-एक में वे वृद्धि के तरंग-चिह्न होते हैं। इनके और भी अनेक अच्छे उदाहरण मिल सकते हैं। ऐसे बीस उदाहरण देना मनोरंजक अभ्यास होगा। अधिकतर प्राणियों में एक ऐसी अवस्था आती है जब उनकी वृद्धि रुक जाती है। बहुत-सी मछलियाँ व सरीसृप इस नियंत्रण का रास्ता छोड़कर तब तक बढ़ते रहते हैं जब तक कि अचानक उनका अन्त नहीं हो जाता। परन्तु अधिकतर प्राणियों के लिए वृद्धि की एक निश्चित सीमा होती है जिसके पश्चात् कोई तरंग नही होती।

अध्याय १९

संक्रमण व रोग

सामान्यतया सभी साधारण प्राणियों का शरीर श्रांत व दुर्बल होकर वृद्ध हो जाता है। वृद्धावस्था की विवेचना आगे की जायेगी, जिसके पश्चात् उपांत का एक ऐसा आकस्मिक झोंका आता है जिसकी सम्भावना भी पहले कभी नहीं प्रत्याशित थी और जीवन-यात्रा का अन्त हो जाता है। यह मृत्यु प्राकृतिक ही होती है। और यद्यपि प्रकट में उसका कारण न्यूमोनिया अथवा ऐसा ही कोई रोग कहा जाता है, परन्तु तथ्य यही है कि शरीर जराग्रस्त हो चुका होता है विशेष कर हृदय, गुर्दा, जिगर या कभी-कभी मस्तिष्क-जैसे अंग जिनको प्रायः कठोर परिश्रम करना होता है।

रोग—फिर भी कभी-कभी अकाल मृत्यु भी हो जाती है। कुछ-न-कुछ अव्यवस्था हो ही जाती है। चूहे और आदमी नियमोल्लंघन कर ही जाते हैं और रोग आ दबाता है। रोग का अर्थ केवल यही है कि प्राकृतिक रासायनिक-क्रमअ थवा चयापचयन में कोई गम्भीर व्यतिक्रम हो गया है। चयापचयन के स्थान-भ्रष्ट, काल-भ्र ष्ट एवं क्रिया-भ्रष्ट होने का नाम ही रोग है। एक प्राणी में जो रोग है दूसरे में वही प्राकृतिक अवस्था हो सकती है, जीवन के एक काल में जो अवस्था व्याधि मानी जाती है वही अन्य समय प्राकृतिक अवस्था हो सकती है। फिर भी यह समझ लेना चाहिए कि रोग शीर्षक के अन्तर्गत हम बहुधा उत्तेजक विष अथवा किसी बाह्य प्रतिक्रमी के आक्रमण का प्रतिवादन करने के लिए प्राणी की प्रबल क्रियाशीलता की ही गणना करते हैं। ज्वर की दशा में प्राणी, स्वाभाविक सामंजस्य में हुए व्यतिक्रम का सामना करने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है।

रोगों का वर्गीकरण—जहाँ चिकित्सक अति सावधानी से काम लेता है वहाँ जीव-शास्त्री हाथ-पाँव मार लेता है और इसी प्रकार इसके विपरीत भी हो सकता है। परन्तु जीव-शास्त्रीय दृष्टि से रोगों का वर्गीकरण इस भाँति किया जा सकता है—(१) संरचनात्मक (२) विवर्तक तथा (३) परजीवी या सूक्ष्माणु सम्बन्धी।

संरचनात्मक रोगों से हमारा अभिप्राय प्राकृतिक चयापचयन में अव्यवस्था से है

जो जनन-कोशिकाओं में कुछ स्वाभाविक अथवा जन्मजात दोषों, दुर्बलताओं, अत्युक्तियों अथवा संक्षेप में व्यतिक्रमों के कारण उत्पन्न हो जाती है। कुछ प्रकार के मधुमेह तथा मृगी संरचनात्मक रोग होते है। यह ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है कि संरचनात्मक रोग वन्य प्रकृति में नहीं पाये जाते। यदि वहाँ वे उत्पन्न भी होते हैं तो विकसित होने के पूर्व ही उनका अन्त कर दिया जाता है।

विवर्तक रोगों से हमारा अभिप्राय वातावरण, भोजन तथा सक्रियता में कुछ असामान्यता के कारण प्राकृतिक चयापचयन में होने वाली अव्यवस्था से है। मनुष्य के व्यवसाय के कारण उत्पन्न हुए रोग इसी श्रेणी में आते हैं। चूँकि जंगली जानवर जीवन की अप्राकृतिक अवस्थाओं के प्रति बहुत असहनशील होते हैं, अतः उनमें विवर्तक रोग बहुत कम पाये जाते हैं। जंगली पौधे भी अधिकतर प्राणियों के समान स्थान-परिवर्तन नहीं कर सकते, अतएव वे भी सम्भवतः अधिक प्रसहनशीलता दिखलाते हैं। पालतू पशु तथा कृष्ट पौधों में विवर्तक रोगों के पाये जाने की सम्भावना अधिक रहती क्योंकि मनुष्य उनको अप्राकृतिक अवस्थाओं में रखता है। सुयोग से विवर्तक रोगों का का आनुवंशिक संचरण बहुत कम अथवा नहीं के बराबर होता है यद्यपि उनके परवर्ती परिणाम संतति को क्षति पहुँचा सकते हैं। इस गुण में विवर्तक रोग संरचनात्मक रोगों से स्पष्टतः भिन्न होते हैं, क्योंकि संरचनात्मक रोग वंशान्तरित हो सकते हैं।

परजीवी या सूक्ष्माणु सम्बन्धी रोगों से हमारा अभिप्राय शरीर में अनधिकार प्रवेश करने वाले परजीवियों अथवा जीवाणुओं के कारण उत्पन्न व्यतिक्रमों से है। भेड़ में 'जिगर गलन' एवं मनुष्य में 'एनकिलोस्टोमियासिस' (Ankylostomiasis) क्रमशः यकृत पर्णाभ एवं अंकुश कृमि के कारण होते हैं, और पौधों में भी इस प्रकार के रोग 'कीड़ों' द्वारा होते हैं। सूक्ष्माणु शब्द का प्रयोग प्लेग तथा तपेदिक उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं के समान बहुत सूक्ष्म एक-कोशिकीय परजीवियों के लिए करना अधिक सुविधाजनक होगा; अथवा उन अनिष्टकर सूक्ष्मदर्शीय जीवों के लिए जो मलेरिया अथवा निद्रालु-रोग उत्पन्न करते हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि जंगली प्रकृति में बहुसंख्यक परजीवियों की उपस्थिति का कोई अधिक महत्त्व नहीं होता, वहाँ तो 'जियो व जीने दो' का संतुलन स्थापित हो जाता है और इसके कारण अधिक हानि नहीं हो पाती। तीतर (कुक्कुट जाति का पक्षी) हजारों परजीवी कृमियों को आश्रय देता है, जो उस समय तक नगण्य होते हैं, जब तक कि किसी अन्य कारण से पक्षी ही दुर्बल न हो जाये। और फिर तो परजीवी संख्या में अधिक बढ़कर अपने पोषक को ही दबा लेते हैं। दूसरी ओर जब परजीवियों को किसी ऐसे नये पोषक में स्थानांतरित

कर दिया जाता है जिसके सम्पर्क में रहने के वे आदी नहीं हैं तो वे अधिक हानि करते हैं जैसा कि किसी जंगली प्राणी के रुधिर से सेटसी मक्खी (tsetse fly) द्वारा लाये गये निद्रालु-रोग के ट्राइपेनोसोमा मनुष्य में रोग उत्पन्न कर देते हैं।

परजीवी या सूक्ष्माणु सम्बन्धी रोगों का आनुवंशिक वंशान्तरण नहीं होता क्योंकि एक प्राणी दूसरे प्राणी के वंशागति का भागी नहीं बन सकता। परन्तु शिशु में जन्म के पहले गर्भ में ही रोग का संक्रमण हो सकता है और एक विशेष कीटाणु के आक्रमण की ओर संरचनात्मक सहज-प्रभावशीलता का आनुवंशिक सातत्य हो सकता है। चूंकि सामान्य जीवन-क्रम का शरीर पर पराश्रयों एवं विशेषकर परजीवी सूक्ष्माणुओं के आक्रमण के कारण बहुधा आकस्मिक अन्त हो जाता है, अतएव हम संक्रामक रोगों के सामान्य जीव-शास्त्र की कुछ चर्चा करना चाहते हैं।

संक्रामक रोग—कुछ जंगली जातियों में रोगग्रस्त शिशुओं को झाड़ियों में छोड़ देने की प्रथा है, जिससे कि जंगली पशु उनको उदरस्थ कर जावें। ऐसा उस समय किया जाता है जब शिशु किसी ऐसे रोग से ग्रस्त होता है जिसकी चिकित्सा माता-पिता चिकित्सक की पूरी सहायता से भी नहीं कर सकते। यह प्रथा बड़ी कठोर प्रतीत होती है और हम बहुत भयभीत भी हो उठते हैं। परन्तु हम स्वयं ऐसे कार्य करने को सहमत हो जाते हैं जो आगे चलकर अधिक निष्ठुर प्रमाणित होते हैं जैसे हम कुछ ऐसे मनुष्यों की संख्या बढ़ाते जाना सहन कर लेते हैं जो मूलतः विकृत होते हैं।

ये आदिवासी लोग कुछ रोगों से ग्रस्त बालकों को इस प्रकार क्यों छोड़ देते हैं? यह सत्य नहीं है कि उन्हें उनसे ममता नहीं है क्योंकि इससे हुआ शोक यर्थाथतः निष्कपट होता है। इसका कारण यह है कि वे रोग को समझ पाने तथा रोगी की सहायता करने में अपने-आपको असमर्थ पाते हैं और पिछले अनुभव से वे जानते हैं कि रोग "फैलता" है। वे यह भी जानते हैं कि झाड़ियों में मृत्यु शीघ्रता से हो जाती है।

हम प्रायः भूल जाते हैं कि संक्रामक रोगों के बारे में हमारा ज्ञान कितना नया है। इस वर्ष (१९२३) फ्रांस में पास्चुर (Pasteur) की जन्म-शताब्दी मनायी जा रही है, और यद्यपि सम्भवतः वही सूक्ष्माणुओं और रोगों के सम्बन्ध का पता लगाने वाला प्रथम आदमी नहीं रहा होगा, परन्तु उसी ने रोगों के इस कार्य-कारण सम्बन्ध को पूर्णतः सिद्ध किया तथा रोगों के "जीवाणु-सिद्धान्त" को प्रचलित किया। इस सिद्धान्त ने कि कुछ रोग शरीर पर विशिष्ट सूक्ष्माणुओं के आक्रमण के कारण उत्पन्न होते हैं दो तरह से एक नये युग का सूत्रपात किया। प्रथम बड़ी बात उसने इस भ्रम को दूर करने की कि रोग, अन्धेरे में से निकलकर मनुष्य का गले पकड़ लेने वाला रहस्यमय

राक्षस नहीं, एक विषैले पौधे के कारण उत्पन्न होता है जो पोइज़न आईवी (Poison ivy) के समान बाहर से विषाक्त करने के स्थान पर अन्दर से कार्य करता है, अथवा आखेटी पशु के कारण होता है जो भेड़िये के समान बाहर से परेशान न कर अन्दर से करता है। इस सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण होने का दूसरा कारण इसका यह सुझाना था कि शरीर में रोगों के जीवाणुओं के अनधिकार प्रवेश का परिहार अथवा प्रति-विधान कैसे किया जा सकता है। जैसा कि विज्ञान के इतिहास में सदा होता आया है, सिद्धान्त की खोज के पश्चात् उसका व्यावहारिक उपयोग भी निकल आता है; अधिक जानकारी का अर्थ होता है नियंत्रण करने की अधिक शक्ति। इस समस्या पर बहुत संक्षेप में विचार कर लेना उपयोगी होगा कि किस प्रकार कुछ रोजमर्रा की रीतियों द्वारा विशिष्ट संक्रामक रोगों का परिहार किया जा सकता है।

मृत्यु के सूक्ष्मदर्शीय दूत—यह निस्संदिग्ध रूप में ज्ञात है कि रोग के सूक्ष्माणु बहुत सूक्ष्म होते हैं, तथा पिन की नोक के अथवा इस "०" के बराबर स्थान में वे झुण्ड भर हो सकते हैं। इनमें से अधिकांश तपेदिक, प्लेग, हैज़ा, डिफ्थीरिया तथा आंत्र ज्वर (Typhoid) आदि उत्पन्न करने वाले सूक्ष्मदर्शीय पौधे या जीवाणु होते हैं। परन्तु कुछ और महत्त्वपूर्ण, जैसे मलेरिया, निद्रालु रोग तथा आतशक उत्पन्न करने वाले जटिल जीवन-वृत्त वाले सूक्ष्मदर्शीय प्राणी होते हैं। एक महत्त्वपूर्ण सामान्य तथ्य यह है कि अधिकांश रोगों के सूक्ष्माणु जीवित शरीर में ही जीवित रह सकते हैं, बाहर वे शीघ्र ही मर जाते हैं; परन्तु इस कथन के दो अपवाद भी हैं–प्रथम यह कि कुछ सूक्ष्माणु दूध अथवा जल-जैसे माध्यम में कुछ समय तक जीवित रह सकते हैं और द्वितीय यह कि कुछ सूक्ष्माणुओं के मनुष्य के अतिरिक्त भी पोषक अथवा शिकार होते हैं। यथा मले-रिया के सूक्ष्माणु एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में मच्छरों द्वारा ले जाये जाते हैं तथा ब्यू-बोनिक प्लेग (या काली मृत्यु) के दण्डाणु चूहे में रहते हैं और संक्रांत चूहे के पिस्सू द्वारा काटे जाने पर मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं। इसके पश्चात् यदि प्लेग का प्रभाव मनुष्य के फेफड़ों पर हो जाता है तो इसके जीवाणु थूक, खांसी आदि के द्वारा एक मनुष्य से दूसरे में फैल जाते हैं।

सूक्ष्माणु क्या करते हैं—यह संगत प्रश्न पूछना आसान है, परन्तु इसका उत्तर बहुत लम्बा चौड़ा है। कुछ सूक्ष्माणु शरीर में प्रवेश कर जायें और सम्भव है कि कुछ ही घंटों में मनुष्य की मृत्यु हो जाये। कारणों के अनुपात में परिणाम बहुत बढ़ा-चढ़ा दीखता है। "देखिए, एक छोटी-सी चिनगारी कितने बड़े वन को भस्म कर देती है।" आहार-नाल अथवा रुधिर में या श्वांस-नाल व फेफड़ों में इन आक्रामकों की

संख्या बहुत शीघ्रता से बढ़ती हैं। "एक इंच के पांच हजारवें भाग से भी कम लम्बा दण्डाणु, सामान्य अवस्था में इतनी तीव्रता से बहुगुणित होता है कि पांच दिन में ही उस एक की संतति, एक मील गहरा समुद्र भर सकती है।" डाक्टर मेकफी ने यह हिसाब लगाया कि हैज़े का दण्डाणु प्रत्येक बीस मिनट बाद द्विगुणित हो जाता है और इस भाँति एक दिन में ५ के ऊपर सत्ताइस शून्य के बराबर संख्या की संतति उत्पन्न कर सकता है जिसका भार ७००० टन होगा। परन्तु यह सब होने के पूर्व ही रोगी की मृत्यु हो जाती है।

वैसे ऐसा नहीं है कि सूक्ष्माणु बहुगुणित होकर या प्रायः ऊतक में छेद करके, मार्ग अवरुद्ध करके अथवा रुधिर-कणिकाओं का भक्षण करके ही प्राणी का अन्त करते हैं।

ये बातें सम्भव है, परन्तु जहाँ तक जीवाणुओं का प्रश्न है, हमारे प्रश्न का मुख्य उत्तर यह है कि रोग तथा मृत्यु विषाक्तता के कारण होते हैं। बहुत-से जीवाणु एल्ब्यूमिनीय विष अथवा जीव-विष (टाक्सिन) उदार्सजित करते हैं जो शरीर में स्थित अनेक प्रकार की जीवित कोशिकाओं के लिए घातक होते हैं। दूसरे प्रकरणों में जीव-विष जीवाणुओं के निरंतर नाश व विलयन द्वारा मुक्त हो जाता है। हम थोड़े शब्दों में सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि शरीर की कोशिकाओं का जीवित पदार्थ इन एल्ब्यूमिनीय पदार्थों तथा प्रोटीन की उपस्थिति से संकटजनक रूप में हो प्रभावित हो जाता है। यह बात विलक्षण है कि अण्डे की सफेदी-जैसी अहानिकर वस्तु भी तीव्र विष की भाँति कार्य कर सकती है।

आक्रमणकारी किस भाँति प्रवेश करते हैं—सूक्ष्माणु त्वचा में बालों के जड़ की परिखा व गर्त द्वारा प्रवेश करते हैं। और इससे यह स्पष्ट है कि त्वचा जितनी साफ व ताजी होगी उतने ही कम जीवाणु उस पर आसन जमा कर फल-फूल सकेंगे। मुख के अनेक तरेड़ों में सूक्ष्माणु छिपे रह सकते हैं, अतएव उसमें संक्रमण बहुधा बहुत शीघ्रता से लग जाता है और नासिका मार्ग में अनक रक्षकों के होते हुए भी, फेफड़ों पर उनका बहुत शीघ्र आक्रमण होता है। फेफड़े लगभग ९७ वर्ग गज़ की बहुत बड़ी नम सतह प्रस्तुत करते हैं जिसकी आवरण-झिल्ली बहुत कोमल होती है। खाद्य कुल्या की चिकनी भित्ति वाली ग्रास-नली में जहाँ से कि भोजन शीघ्रता से गुजरता है, अथवा आमाशय में, जहाँ अम्ल का उदासर्जन होता रहता है, संक्रमण बहुत कम होता है, परन्तु आंत्र में, जिसकी विस्तृत आन्तरिक सतह कोमल व नाबराबर होती है, संक्रमण के बहुत अधिक अवसर होते हैं। हैज़े, पेचिश, तथा आंत्रज्वर के सूक्ष्माणु यहीं से प्रवेश पाते हैं।

बहुधा सूक्ष्माणु त्वचा में छोटे-से घावों द्वारा प्रसिष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार

मच्छरों व सेटसी (tsetse) मक्खियों द्वारा किये गये छेदों से मलेरिया व निद्रालु रोग के कीटाणु मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं।

प्रोफेसर कौंसिलमैन (Professor Councilman) ने कहा है कि ४ जुलाई को होने वाले समारोह के पश्चात् धनुस्तंभ रोग से मरनेवाले बालकों की संख्या बहुधा मध्य अमेरिका की राज्य क्रान्ति में मृत हुए समस्त लोगों की संख्या से भी अधिक हो जाती है। धनुस्तंभ रोग मिट्टी व छोटे बालकों के गन्दे हाथों पर बहुधा पाये जाने वाले धनुस्तम्भ दण्डाणु के विषैले प्रभाव के कारण होता है। खेलने की पिस्तौल से हुए घाव का अर्थ है कागज़ या धातु का छोटा-सा टुकड़ा त्वचा की गन्दी सतह पर के धनुस्तम्भ दण्डाणुओं के साथ अन्दर घुस जाता है। कुछ ही दिनों में सूक्ष्माणु बहुगुणित हो जाते हैं और भयंकर रोग जड़ जमा लेता है।

संक्रमण का परिहार कैसे किया जाये——सूर्य का प्रकाश रोग के सूक्ष्माणुओं का शक्तिशाली प्रतिरोधी होता है और शुष्क व भली-भाँति प्रकाशित स्थानों पर फिरने वाले सूक्ष्माणु अधिकतर मर जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि जहाँ तक सम्भव हो हमें शहर की अन्धेरी गलियों व घर के अन्धेरे कमरों में नहीं रहना चाहिए। प्रकाश अनेक प्रकार से जीवनदायी होता है, परन्तु अधिकतर जीवाणुओं के लिए यह मृत्युदायी होता है विशेष कर जबकि साथ ही शुष्कता भी हो। सम्भवतः यह सूक्ष्माणुओं को इतनी तीव्रता से जीवन यापन करने को बाध्य करती है, कि उनकी मृत्यु ही हो जाती है। अधिक प्रकाश हमारी सुरक्षा का पहला सिद्धान्त है।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि हमको अपने खाने-पीने के सम्बन्ध में कुछ अधिक सोच-विचार करना चाहिए। जीवाणुओं के बिना कोई वस्तु सड़ नहीं सकती और जब कभी कोई भोज्य या पेय पदार्थ खराब होने लगे तो हमको सावधान हो जाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि सूक्ष्माणु बहुगुणित हो रहे हैं और सम्भव है कि वे विषैले पदार्थ उत्पन्न कर रहे हों। बहुत-से प्रकरणों में सड़न पैदा करने वाले जीवाणु स्वयं हानिकर नहीं होते, वरन् उनके द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न होने वाले पदार्थो में आपत्ति निहित होती है। इसके अतिरिक्त बहुत सम्भव है कि वे भोजन को अन्य प्रवल जीवाणुओं द्वारा दूषित किये जाने के प्रति सहज प्रभावशील बनावें। परन्तु हमको यहां अपनी साधारण बुद्धि का उपयोग करना चाहिए। मट्ठे में बहुत जीवाणु होते हैं फिर भी वह बहुत ही स्वास्थ्यकर पेय है। स्वादिष्ठ पनीर में बहुत-से जीवाणु होते हैं, परन्तु वह बहुत ही स्वास्थ्यकर भोजन है। परन्तु प्रवाहहीन जल, खुले रखे हुए दूध, मांस जिस पर मक्खियां बैठ चुकी हों एवं समुद्र से बहुत समय पहले निकली हुई सीपी का परिहार करने के उचित कारण हैं।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दूसरे लोगों के सम्बन्ध में उचित-अनुचित का विचार कर लेना चाहिए और शांतिमय जीवन बिताने के लिए इसका विनम्रतापूर्वक प्रतिपालन करना चाहिए। आधुनिक स्वास्थ्य-विज्ञान ने यह निश्चित रूप में सिद्ध कर दिया है कि रोग के अधिकतर कीटाणु एक मनुष्य से दूसरे में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा जाते हैं। ऐसे लोग भी होते हैं जो सूक्ष्माणुओं के चलते-फिरते भंडार हैं तथा कई प्रकार से निरन्तर दूसरे लोगों में संक्रमण करते रहते हैं, जैसे कभी असंयमित रूप से खांस कर या छींक कर, कभी जोर से हँस कर या बोल कर वायु या थूक के साथ फैलाते हुए, कभी चुम्बन व आलिङ्गन कर, कभी असावधानी से भोजन व पेय पदार्थों को स्पर्श कर व कभी अन्य लोगों के उपयोग में आनेवाले पदार्थों को दूषित कर। बालकों का प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा, कुछ रोगों के संक्रमण के प्रति सहज प्रभावशील होना उनके इस व्यवहार के कारण होता है कि वे वस्तुओं को एवं अपनी अंगुलियों को भी अपने मुँह में रख लेते हैं। यह संक्रमण को आमंत्रित करने के समान है। तथा यह ध्यान में रखना चाहिए कि मोतीझरा अथवा उसके सदृश रोगों के "वाहकों" (जो लोग रोगी होने के पश्चात् पूर्णतः सूक्ष्माणुओं से मुक्त नहीं हो पाये हैं) के अतिरिक्त, अन्य लोग भी होते हैं, जिनमें रोग का इतना कम प्रवाह होता है कि उसका पता भी नहीं लगता। ये वाहक समाज के लिए भय के समान हैं क्योंकि वे भी रोग के सूक्ष्माणुओं के आगार व विसरण करने वाले होते हैं। इनसे जितना हो सके बचना चाहिए।

यद्यपि यह विरोधाभास प्रतीत होता है, परन्तु यह कहावत सत्य है कि रोग के संक्रमण से बचने का निश्चित उपाय, शक्तिपूर्वक स्वस्थ रहना है। क्योंकि प्रायः हमारे स्वास्थ्य के अनुपात में ही सूक्ष्माणुओं के प्रवेश में बाधा होने की सम्भावना रहती है। शक्तिशाली ऊतक व लाल रुधिर, जो नीले रुधिर से अच्छा होगा, उनका अवरोध करेंगे। जैसा कि मैटकिनि कौफ़ (Metchnikoff) ने सिद्ध किया है परिभ्रमण करने वाले अमीबाभ-कोशिका या भक्षक-अण्ड हमारे रक्षक हैं जो अनधिकार प्रवेश करने वाले सूक्ष्माणुओं पर आक्रमण कर उन्हें नष्ट कर देते हैं। ये उच्च श्रेणी के प्राणियों में एक विशिष्ट प्रकार की श्वेत रुधिर-कणिका के प्रतिनिधि रूप होते हैं, परन्तु बहुत-से बिना रुधिर वाले निम्न श्रेणी के प्राणियों में ये परिभ्रमण करने वाले अमीबाभ-कोशिका के रूप में होते हैं। वे सूक्ष्माणुओं को खाने के लिए भूखे होते हैं और उनको निगल कर पचा जाते हैं। जब स्वास्थ्य अच्छा होता है तब भक्षक-अण्ड शक्तिशाली होते हैं और सूक्ष्माणुओं का आक्रमण होने पर शरीर रूपी दुर्ग की सुरक्षा बहुधा प्रभावकारी होती है।

अध्याय २०

जीवन-सूत्र की अवधि

समस्त सामान्य जीवित प्राणी अपना वैयक्तिक जीवन संसेचित अण्ड-कोशिका के रूप में प्रारम्भ करते हैं जिसमें पितृ तथा मातृ वंशागतियों का संयोग हो जाता है। इसके अपवाद पाना भी सरल है जैसे नर मधुमक्खियों के केवल माता होती है पिता नहीं, या प्रवाहित जल का हाइड्रा कलियों द्वारा बहुगुणित होता रहता है, अथवा बेदे-मजनूं (weeping willow) जिनका प्रजनन कलम लगाने से होता है, परन्तु अधिकांश जीवधारियों के लिए सामान्यतया यह कथन ठीक ही है कि वैयक्तिक जीवन शुक्राणु द्वारा अण्ड-कोशिका के संसेचन से प्रारम्भ होता है। जो बात प्राणि-जगत् के विषय में सत्य है वही अधिकतर पौधों में भी पायी जाती है और गिन्को (Ginkgo) एवं उससे सम्बन्धित उच्च श्रेणी के पौधों तक में पुरुष तत्त्व उसी भाँति अण्ड-कोशिका की खोज करने वाली सक्रिय गतिशील कोशिका होती है जैसा कि अधिकतर प्राणियों में पाया जाती है।

कुछ प्रकरणों में जीवित प्राणी के जीवन वृत्त में एक के बाद दूसरा समायोजन होता रहता है। प्रथम समायोजन वंशागति में माता व पिता से प्राप्त हुए योगदान में तथा प्रभावी व अप्रभावी आनुवंशिक कारकों में होता है। काले मुर्ग व श्वेत एण्डेलूसियन (Audalusian) मुर्गी की सन्तान नीले रंग की होगी। फिर आनुवंसिक "प्रकृति" व उपलब्ध "वातावरण" में भी भी समायोजन होता है। "प्रकृति" में जनन-कोशिका की समस्त शक्ति व प्रेरणा निहित है व "वातावरण" में भोजन व आदतों के प्रभाव की समस्त रीति आती है। फिर अपनी व दूसरों की परिचर्या के लिए "भूख" व "प्रेम" में समायोजन होता है। इसी प्रकार बचाने व व्यय करने में, संचय करने व विस्फोटन में, चाभी भरने व समाप्त होने में, अथवा तकनीकी भाषा में उपचय और अपचय प्रक्रिया में समायोजन होता है। वृद्धावस्था की ओर ले जाने वाले जीवनावश्यक परिवर्तनों, तथा युवा बनाये रखने वाले परिवर्तनों-जैसे जर्जरता और पुनरोजीकरण में होने वाला समायोजन भी बहुत महत्त्व का होता

है। इसका उदाहरण देने के लिए हम जीवन-अवधि एवं वृद्ध होने की प्रक्रिया पर विचार करेंगे।

जंगली प्राणियों के जीवन की अवधि के सम्बन्ध में विश्वसनीय रूप से कुछ कहना कठिन है। यदि युवावस्था में चिह्नित किये गये पक्षी अथवा स्तनधारी, कई वर्षों बाद गोली के शिकार भी हो गये तो हम केवल यही कह सकते हैं कि इस जाति के इतने वर्षों तक जीवित रहने की सम्भावना है; क्योंकि हम बस यही जानते हैं कि औसत आयु कम या अधिक हो सकती है। हम सामन मछली के शल्कों के वलयों से उसकी आयु पढ़ सकते हैं, परन्तु यदि हम आठ वार्षिक वृद्धि के चिह्न वाली मछली को पकड़ें, तो वह हमको सामन की औसत आयु नहीं बता सकती। अधिकतम आयु बताने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु शल्कों को गिनने से प्राप्त आंकड़ों से शीघ्र ही सत्य के निकट पहुँचा जा सकता है और कुछ निश्चित कहा जा सकता है।

जीवन की अवधि––पाले गये प्राणियों के सम्बन्ध में मिली सूचनाओं से हमें यह पता चलता है कि हाथी दो-सौ वर्ष, सुनहरा गरुड़ पचास वर्ष, मेढक चालीस वर्ष, क्रेफिश मछली बीस वर्ष और ब्लैक बर्ड चिड़िया अठारह वर्ष जीवित रहती है; परन्तु हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इन पशुओं के प्राकृतिक अवस्था में रहने पर भी ऐसे ही आँकड़े प्राप्त होंगे। कुछ प्राणियों के जीवन की प्राकृतिक अवधि बंदी अवस्था के कारण कम हो सकती है और दूसरों की बढ़ सकती है। वन्दी तोता अस्सी वर्ष तक जीवित रह सकता है, जब कि वन में उसका इतनी आयु तक जी पाना कठिन है। हमबोल्ट (Humboldt) की उस बूढ़े तोते की कहानी मनोरंजक थी जो वर्षों तक अमेरिकन आदिवासियों की एक जाति की अप्रचलित भाषा वोलता था जब कि उस भाषा को समझनेवाला एक भी आदमी नहीं बचा था।

सत्य का अनुमान––प्राणियों की आयु के सम्बन्ध में सामान्य अनुमान लगाने के अनेकों प्रयत्न किये गये हैं। एक पुरानी कहावत है कि रेन (wren) चिड़िया तीन वर्ष जीवित रहती है, कुत्ता उससे तिगुना, घोड़ा कुत्ते से तिगुना, मनुष्य घोड़े से तिगुना––अर्थात् इक्यासी वर्ष जीवित रहता है। अच्छा हो इस कहावत को यहीं तक रखें क्योंकि इसमें अगला प्राणी गदहा है, जो मनुष्य की आयु से तिगुना जीवित रहता है।

ऐसा प्रचलित है कि हाथी के समान बड़े शरीरवाले प्राणी अधिक जीवित रहते हैं, जब कि मशक जातीय कीड़े मिज़ेज़, (midges) के समान छोटे प्राणियों की जीवनावधि कम होती है। इसमें कुछ सत्य अवश्य है, क्योंकि प्रायः बड़े शरीर का

अर्थ होता है ऊर्जा का काफी मात्रा में पूँजीकरण, और भण्डार जितना बड़ा होगा जीवन की अवधि उतनी ही बढ़ने की संभावना होगी। परन्तु यह सामान्य सिद्धान्त सत्य नहीं है। बिल्ली या मेढक घोड़े के बराबर अर्थात् चालीस वर्ष तथा क्रेफिश (Crayfish) सुअर के बराबर लगभग बीस वर्ष जीवित रह सकती है।

दूसरा सामान्य विचार फ्लाउरें (Flourens) ने प्रस्तुत किया था कि जीवन की अवधि सर्वदा वृद्धिकाल की पाँच गुनी होती है और इसमें भी हमको सत्य की झलक मिलती है। क्योंकि लम्बे वृद्धिकाल का अर्थ यह होता है कि जीवन की नींव बहुत दृढ़ रखी गयी है, जिस पर सुरक्षित वयस्क जीवन आधारित रह सकता है। परन्तु यह सामान्य विचार भी हर जगह ठीक नहीं उतरता। घोड़ा चार वर्ष में प्रौढ़ होता है फिर भी वह चालीस वर्ष तक जीवित रह सकता है। सामान्य सर्पमीन पाँच से आठ वर्ष में प्रौढ़ होती है फिर भी वह प्रथम बार अण्डे देने के पश्चात् ही मर जाती है। विकास व वृद्धि की लम्बी अवधि के पश्चात् प्रायः आकस्मिक मृत्यु-उन्मुख पतन होना शुरू हो जाता है।

एक अन्य विचार जिसमें कुछ तथ्य प्रतीत होता है, यह है कि फुर्तीले प्राणी शीघ्र क्षयी होते हैं, जब कि सरल प्रकृतिवाले सुस्त प्राणी अधिक जीवित रहते हैं। ग्रीष्म काल में कार्य करनेवाली मधुमक्खी कुछ सप्ताह में ही मर जाती हैं जब कि "दादी" कहलानेवाली सी-एनीमोन जिसकी ४ अगस्त १८८७ को एडिनबरा में प्रत्यक्षतः प्राकृतिक मृत्यु हुई थी, कम से कम छियासठ वर्ष की थी। केलिफोर्निया का एक सिकोआ (sequoia) अथवा 'बड़ा वृक्ष' दो हज़ार वर्षों से भी अधिक आयु का पाया गया है जब कि कुछ कीट थोड़े-से दिन ही जीवित रहते हैं। उत्तेजना-हीन कार्प मछली अति उत्साही हाथी के बराबर अर्थात् दो सौ वर्ष तक जीवित पायी गयी है। कुछ मोलस्कों के समान बहुत-से आलसी (मन्द गामी) प्राणी बहुत ही सक्रिय चिड़ियों की अपेक्षा कम जीवित रहते हैं। तथ्य यह है कि तीव्रता से जीने का अर्थ खतरों से भरी हुई ज़िन्दगी अवश्य है, परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि जीवन की अवधि कम और सुखपूर्ण हो। शेलफिश व कछुए जैसे एक दूसरे से इतने भिन्न प्राणियों की तुलना से कोई सही जानकारी नहीं होती।

दीर्घजीवी और अल्पजीवी प्राणी—हमारे सम्मुख एक मनोरंजक पहेली है। लगभग एक ही प्रकार का जीवन बितानेवाले प्राणियों की औसत जीवन-अवधि कैसे भिन्न होती हैं? इसका उत्तर हमें दो दिशाओं में खोजना होगा। प्रथमतः शारीरिक संरचना दो प्रकार की होती है, अधिक जीवित रहनेवाली व कम जीवित रहनेवाली।

प्रथम प्रकार की बनावट वाले बुढ़ापे अथवा जर्जरता के प्रभाव को, जो सब जटिल संरचनावाले प्राणियों में अनिवार्यतः आता है, रोक रखने में सफल होते हैं, जब कि दूसरी प्रकारवाले जीवों के लिए यह सम्भव नहीं है। परन्तु जर्जरता को टालने के क्या उपाय हैं? हो सकता है कि दीर्घजीवी प्राणियों में सुचारु रूप से कार्य करनेवाले नियामक तंत्र हों जो शरीर की क्रियाओं को सामंजस्यपूर्ण अथवा सांध्वनिक बनाये रखते हों और लम्बे विश्राम काल, पूर्ण निद्रा एवं आहार व वातावरण में बारम्बार होनेवाले परिवर्तनों के द्वारा उसमें पुनः शक्ति प्राप्त करने की बहुत क्षमता होती हो। और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कुछ प्राणियों को शरीर क्रियात्मक दृष्टि से दूसरों की अपेक्षा, प्रजनन बहुत महँगा पड़ता है। यह बड़े महत्त्व की बात है क्योंकि प्रजनन बहुधा मृत्यु का आरम्भ होता है। अत्युत्तम तितली तथा पुष्ट लैम्प्रे (lamprey) दोनों ही इस दिशा में समान है, क्योंकि प्रजनन दोनों के लिए घातक होता है।

जीवन-अवधि : एक अभ्यनुकूलन—हमें उत्तर का दूसरा अंश खोजने के पहले इस प्रश्न का उत्तर पा लेना होगा कि शरीर क्रियात्मक समायोजन में पूर्णतः एक से प्रतीत होनेवाले प्राणियों की जीवन-अवधि क्यों बहुत भिन्न हुआ करती है? पचीस वर्ष पूर्व प्रोफेसर बाइज़मान (Prof. Weismann) द्वारा यह उत्तर प्रस्तुत किया गया था कि प्राणी के जीवन की अवधि जीवन संघर्ष की विशिष्ट अवस्थाओं से नियंत्रित होती है। जीवन की अवधि संरचनात्मक गुण है और जीव-विकास के प्रारम्भिक काल में बहुत अस्थिर थी, जैसा कि मनुष्य में अब भी पाया जाता है। ऐसे रूपान्तर जिनके कारण जीवनकाल विभिन्न विशिष्ट परिस्थितियों के अनुकूल लम्बा या छोटा नहीं होता था, समाप्त कर दिये जाते थे। ऐसे रूपान्तर जिनमें जीवन की अवधि सबसे लाभदायक होती, शीघ्र ही प्रजाति द्वारा अपना लिये जाते। प्राणी के जीवन की विशिष्ट अवधि जीवन-संघर्ष में प्राकृतिक वरण द्वारा निर्धारित हुई है। उस पर बाह्य नियन्त्रण ही होता है, आन्तरिक नहीं।

नौ से बारह पौंड वज़नवाला सुनहरा गरुड़ (Golden Eagle) वज़न के हिसाब से खरगोश और लोमड़ी के बीच में आता है। तीनों ही प्राणी बहुत उद्योगी होते हैं; तीनों की संरचना जटिल और अत्युत्तम होती है। परन्तु जब कि खरगोश दस वर्ष जीता है, लोमड़ी चौदह वर्ष और सुनहरा गरुड़ साठ वर्ष जीवित रहता है। बाइज़मान की व्याख्या यह है कि सुनहरा गरुड़ इतने लम्बे जीवन के नाते जीवन-संघर्ष में अपने पैर जमाता है। इसको अधिक काल तक जीवित रहना ही चाहिए क्योंकि उसको

वयस्क होने में दस वर्ष लगते हैं तथा वह एक वर्ष में केवल दो अण्डे देता है। अन्य दोनों स्तनधारियों की प्रजनन शक्तियाँ पक्षी की अपेक्षा अधिक होती है तथा शिशुओं की भी कम मृत्यु होती है, अतएव लोमड़ी व खरगोश को गरुड़ के बराबर अवधि तक जीवित रहने की आवश्यकता नहीं है। यह बात जाति के लिए लाभदायक नहीं है कि यौवन काल निकल जाने पर भी प्राणी प्रजनन करता रहे—एक सीमा यह है; परन्तु जाति के लिए यह भी लाभदायक नहीं है कि जनसंख्या बहुत कम हो जाये (जब कि भोजन प्रचुरता में हो व स्थान में आवश्यकता से अधिक भीड़-भाड़ न हो) यह दूसरी सीमा है। समय बीतने के साथ-साथ प्राणी के जीवन की अवधि, विशेषकर बहुगुणित होने की गति तथा औसत मृत्युसंख्या-जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों के अनुसार, निर्धारित की गयी है।

वृद्ध होने बारे में—बुढ़ापा मानव जाति की सबसे अधिक सुपरिचित अपूर्णता है। यह प्राय: विश्वव्यापी रोग है जिसको हक्सले (Huxley) "एन्नो डोमिनी" "Anno Domini" कहा करता था। वास्तव में कुछ उत्तम अपवाद भी मिलते हैं, जैसे जिनको भगवान् स्नेह करता है वे वृद्धावस्था में भी युवा बन रहते हैं। ये ऐसे अग्रगामी अपवाद हैं जो किसी दिन सामान्य जातीय लक्षण हो जानेवाले गुण की ओर इंगित करते हैं और वास्तव में ऐसे भी लोग हैं जो यौवनारम्भ अथवा यौवन में ही किसी दुर्घटना, मच्छरों के काटने, विस्फोटन होने, विषाक्त भोजन अथवा जहाज़ के डूब जाने आदि कारणों से मर जाते हैं और वृद्ध नहीं हो पाते हैं। परन्तु इन अपवादों के अतिरिक्त, हममें से अधिकतर लोग वृद्ध होते हैं और हमारा अति शीघ्र वृद्ध हो जाना बहुत असुविधाजनक होता है। मानवीय प्रवृत्ति इसका प्रतिरोध करती है। स्टीवेन्सन ने अपने मित्र से कहा था "वृद्धत्व एक अपधर्म है, जिसके विरुद्ध लड़ना होगा।" परन्तु इसके विरुद्ध कहाँ तक लड़ा जा सकता है? इसका जीव-शास्त्रीय अर्थ क्या है, क्या यह अनिवार्य है? हमारा प्रकृति का नियंत्रक व व्याख्याता होना अप्रयोजन ही नहीं है। क्या हम (Anno Domini) की प्रवंचना नहीं कर सकते?

अमर प्राणी—यह विश्वास करने के बहुत-से यथार्थ कारण हैं कि सबसे सरल प्राणियों की मृत्यु प्राकृतिक नहीं होती। उनकी हत्या की जा सकती है, परन्तु वे मरते नहीं हैं। उनके पास भरण-पोषण के लिए जटिल शरीर नहीं होता; वे अपनी क्षति व टूट-फूट की पूर्ण पूर्ति करते रहते हैं; वे जितनी ही शीघ्रता से वृद्ध होते हैं उतनी ही शीघ्रता से युवा भी हो जाते हैं तथा विभाजित होकर द्विगुणित होने का

उनका ढंग शारीरिक क्रियाओं की दृष्टि से इतना सरल होता है कि प्रेम के लिए उन्हें अमरता को बन्धक नहीं रखना होता। दुर्घटनाओं को यदि छोड़ दिया जाये तो वे शारीरिक अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं। हम यह सोच सकते है कि यही बात प्रवाहित जलवाले हाइड्रा (Hydra) अथवा प्लेनेरिया (Planaria) कहलानेवाली छोटी जीवित झिल्ली के समान कुछ सरल, बहुकोशिक शरीरधारी प्राणियों के विषय में भी सत्य है। यह हो सकता है कि उनका भी शारीरिक अमरत्व पर अधिकार हो।

वृद्धत्व एक प्रकार का राजस्व—ऐसा प्रतीत होता है कि काम्य शरीर के लिए वृद्ध होना एक प्रकार का राजस्व अदा करता है। अच्छे शरीर का अर्थ है श्रम का विभाजन व जटिल "निर्माणशाला" जिसका तात्पर्य है उसमें प्रयोगशाला के उपस्कर तथा प्रचुर मात्रा में रस-द्रव्य भी संचित रहना। इसका अर्थ केवल प्रवाहित नदी ही नहीं; नदी में बहनेवाले व उसके मार्ग का निर्धारण करने में भाग लेनेवाले रेत व कंकड़ भी होते हैं। परन्तु सम्भव हो तो हमें यह रूपक छोड़ देना चाहिए। बात यह है कि वास्तव में काम्य शरीर में एक अच्छा स्थायी ढाँचा होना चाहिए जिसका अर्थ कलिल जीवन द्रव्य के विभिन्न क्षेत्रों को परिमित करनेवाले आन्तर कोशिक वलयकों से लेकर उपास्थि एवं हड्डी के समान सारपूर्ण उपस्कर तक होता है। हम यहाँ पृथ्वी का स्पर्श करते हैं। प्रोफेसर चाइल्ड के (Senescence and Rejuvenescence) (जर्जरता व पुनरोजीकरण) नामक ग्रन्थ में सावधानी से किये गये अध्ययन से प्रतीत होता है कि जीवित तत्त्व नहीं, प्रयोगशाला के उपस्कर वृद्ध होते हैं। क्योंकि वे धारा-स्थित अवक्षेप के समान स्थायी होते हैं, अतएव उनमें होनेवाले क्षय व टूट-फूट की पूर्णतः पूर्ति नहीं की जा सकती। जीव तत्त्व वृद्ध नहीं होता, वरन् उससे निर्मित ढाँचा वृद्ध होता है। सभी कलाओं की तरह उसके पदार्थ की संभावनाएँ जीवित प्राणी की सीमा होती हैं। यही जीवन का सिद्धान्त है। केलिफोर्निया का "बड़ा वृक्ष" दो सहस्र वर्ष जीवित रह सकता है, परन्तु उसको भी अन्त में वृद्ध होना पड़ेगा। सैद्धान्तिक रूप से हम अमर शरीर की कल्पना कर सकते हैं और सम्भवतः पोलिप (Polyp) और प्लेनेरियन (Planarian) जीवों ने अमरता प्राप्त कर ली हो। परन्तु व्यावहारिक रूप से यह कथन सत्य है कि पुनरोजीकरण के बहुधा अनेकों तीव्र तथा कुशल प्रक्रियाओं के बावजूद जर्जरता की प्रक्रिया सदा विजयी होती हैं और प्राणी वृद्ध हो जाता है।

वृद्ध होने के सिद्धान्त—मेटकिनीकौफ (Metchnikoff) ने मनुष्य के अपने सभ्य वातावरण के प्रति अपूर्ण समायोजन पर अधिक वल दिया है। मनुष्य का

दैहिक विकास उसकी जीने की कला में हुई प्रगति के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सका है। उसकी तीस फुट लम्बी आहार-नाल आजकल निश्चित समय पर नियंत्रित मिलनेवाले सावधानी से तैयार किये गये भोजन के लिए बहुत लम्बी है। इसी लिए शरीर में संघर्ष व विद्रोह होते रहते हैं; कुछ कोशिकाएं अपने से अच्छी दूसरी कोशिकाओं को नष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। आहार-नाल में जीवाणुओं द्वारा मुक्त किये गये विषैले पदार्थ उनकी सफलता में सहायक होते हैं क्योंकि ये कोशिकाओं के प्रतिरोध को कम कर देते हैं। इसलिए मेटकिनीकौफ़ ने खट्टे किये गये दूध में पाये जानेवाले बलगेरियन जीवाणुओं का इन विष उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं पर नियंत्रण करने और "यौवन का स्रोत" होने के प्रयोग किये। परन्तु यह सिद्धान्त ही सम्पूर्ण कहानी नहीं हो सकता क्योंकि जर्जरता जंगली प्राणियों में भी पायी जाती है—यद्यपि उनमें बुढ़ापा कभी नहीं पाया जाता, वह तो लगभग मनुष्य व उसके द्वारा पालित प्राणियों तक ही सीमित है।

जीवन की अवधि पर विचार करते समय हमने वाइज़मान के सिद्धान्त का हवाला दिया था कि जीवन सूत्र की अवधि प्रत्येक प्रकार के प्राणी के लिए समय के साथ प्राकृतिक वरण द्वारा निर्धारित हुई है। इसमें जाति की भलाई नहीं है कि क्षीण व्यक्ति बहुत अधिक जीवित रहें व दुर्बल संतति उत्पन्न करें। इसलिए जो रूपान्तर उचित समय पर मृत्युग्रस्त हो गये, उन्होंने जाति को सुरक्षित रखने में सहायता दी। इसमें भी कुछ सत्य अवश्य है क्योंकि जीवन की अवधि अनुकूली होती है। परन्तु वाइज़मान ने यह नहीं बताया कि जर्जर होना वैयक्तिक रूप से क्यों अनिवार्य है, सिवाय इसके कि उसके द्वारा प्रोटोज़ोआ (Protozoa) की अमरता के सम्बन्ध में दिये गये इस मत से कि उसकी शरीर-रचना इतनी साधारण होती है कि वह अपने क्षय व टूट-फूट की पूर्ति कर लेता है हम कोई तर्क निकाल लें।

हम वृद्ध क्यों होते हैं ?—वृद्ध होने के सम्बन्ध में कुछ अन्य सिद्धान्त भी हैं। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार आग से निकली राख एकत्रित होकर आग को बुझा देती है, उसी भांति विषैले क्षेप्य पदार्थों का एकत्रित होना घातक होता है; या नाभिकीय पदार्थ और कोशिका-पदार्थ का पारस्परिक अनुपात बिगड़ जाता है; कोशिकाओं में विभाजन होने व नवीन जीवन प्रारम्भ करने की शक्ति खो देना, जैसे हमारे मस्तिष्क की तंत्रिका कोशाणु जन्म के समय यह शक्ति खो देती हैं, अथवा शरीर-क्रियात्मक दृष्टि से प्रजनन बहुत महँगा पड़ता है; या कि अन्तःस्रावी ग्रंथियां हारमोन अथवा जीवनावश्यक शक्ति देनेवाले रासायनिक-वाहक बनाते-बनाते थक जाती हैं। परन्तु

यह सिद्धान्त केवल लक्षणों पर निर्भर होते प्रतीत होते हैं तथा जर्जरता के गहनतम मूल कारणों तक नहीं पहुँच पाते। मुख्य कारण यह है कि काम्य शरीर बहुत ही जटिल संघटन है—हम इसे यंत्र नहीं कहेंगे और प्रयोगशाला का उपस्कर बनानेवाले अधिक स्थायी भाग पूर्णतः नीरोग नहीं रह पाते। थकावट के प्रभाव के अवशेष, विशेषकर हृदय और जिगर, गुर्दे और मस्तिष्क-जैसे अधिक व्यस्त भागों में, एकत्रित होते रहते हैं। जीव ऋणी होता जाता है तथा दिवाला निकल जाना ही प्राकृतिक मृत्यु है। व्यावहारिक समस्या यह है कि वृद्धावस्था को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जाये जिसमें शेक्सपियर के शब्दों में हमें "सड़ना नहीं", वरन् केवल परिपक्व होना हो।

सर हम्फ़े रोलेस्टन (Sir Humphrey Rolleston) ने १९२२ में वृद्धावस्था पर कुछ चिकित्सा-सम्बन्धी विचार विषय पर अपने भाषण में कहा था—"जटिल जीव की कोशिकाएं अपने जीवन की अवधि के लिए, शक्ति के जन्मजात भण्डार पर उतना निर्भर नहीं रहतीं जितना उन कलिलों में होनेवाले उपापचय परिवर्तनों पर, जो विभिन्न प्रकार के वाह्य कारकों द्वारा संपरिवर्तित अथवा नियंत्रित किये जाते हैं।" हम इस कथन में थोड़ा परिवर्तन करने का साहस कर रहे हैं। मांटेन के इस विचार से हमारा पूर्णतः मतभेद है कि "मनुष्य मरता नहीं है, वह स्वयं अपनी हत्या करता है।" और एक तर्क हमारे मतभेद को न्याय-संगत बना देता है कि जंगली जीवों में भी जर्जरता व प्राकृतिक मृत्यु सामान्य घटना है। यद्यपि हमारे विश्वास के अनुसार बुढ़ापे को प्रेरित करने के कारण ह्रासकारी वाह्य कारक हैं, परन्तु जर्जरता के लिए इन्हें आकस्मिक से अधिक कुछ नहीं मान सकते। वृद्ध होना स्वाभाविक प्रक्रिया है—जीवन के गुणों में एक दोष है और इसके कलिलीय माध्यम की एक सीमा है। वृद्धावस्था कोशिकीय प्रयोगशाला के उपस्कर जिसे हम यदि यह कहना किसी को अधिक वैज्ञानिक लगे तो आन्तर कोशिक कलिल ढाँचा, कह सकते हैं, का तो हम इसको आन्तर कोशिक पूर्णतः जीर्णोद्धार होने में आनेवाली कठिनाइयों के कारण होती हैं।

हमारा विचार तो बस यह है कि साधारण एक कोशिकीय प्राणियों में भी कोशिकीय 'अवनमन' का अपना समय होता है, जिसके विस्तृत विवरण सर्व विदित हैं; परन्तु बहुत सरल होने के कारण वे आपूर्ति प्राप्त कर, नवीन जीवन प्रारम्भ करते हैं। वे एक जैव-क्षण के लिए वृद्ध होते हैं, और फिर युवा हो जाते हैं। पुनरोजीकरण जर्जरता पर सरलता से विजय पा लेता है। सम्भवतः साधारण पोलिप तथा प्लेनेरियन में भी इसी प्रकार की विजय होती है, परन्तु धीमी गति से। काम्य शरीरवाले

साधारण प्राणियों में जिनमें विस्फोटक एवं पुनर्निर्माणकारी चयापचयन के बहुत टूट-फूट होते हैं, वास्तव में पुनरोजीकरण के अविच्छिन्न प्रक्रम चलते रहते हैं, परन्तु फिर भी जर्जरता की सदा विजय होती है और खेद के साथ कहना पड़ता है कि उसे जीतना भी चाहिए। परन्तु समस्या यह है कि इस विजय को कैसे स्थगित किया जाये। "वृद्ध होने" के सम्बन्ध में सोचना अच्छा है; परन्तु "युवा होने" के सम्बन्ध में सोचना इससे भी अच्छा है।

वन्य जीवों में भी जर्जरता तथा सामान्य वृद्धावस्था के लक्षण हो सकते हैं, परन्तु उनमें वृद्धावस्था नहीं होती। अधिकतर जंगली प्राणी युवावस्था में ही अकस्मात् मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। फिर केवल मनुष्य में ही क्यों बुढ़ापा होना चाहिए ? (१) सामाजिक मनोभावों की न्याय-संगत मांग के अनुरूप दोषपूर्ण संरचनाओं के कृत्रिम आश्रय के कारण—जो तब तक न्यायसंगत होती है जब तक कि वे व्याधि-ग्रस्त प्ररूपों की आनुवंशिक-अविच्छिन्नता को प्रोत्साहित नहीं करते। (२) आनुवंशिक असुविधाओं के कारण जिनमें कुछ लोग वृद्ध ही उत्पन्न होते हैं (३) शरीर-क्रियात्मक अशोध्य ऋण प्रकृति के कारण जिसका हम स्वेच्छया संचय करते रहते हैं, (४) मनुष्य में विश्राम की प्रवृति बहुत कम होने के कारण, (५) प्राणियों में होनेवाले पुनरोजी-करण के परिवर्तन मनुष्य में बहुत कम सीमा तक ही उपलब्ध होते हैं। परन्तु जितना हम सोचते हैं, सम्भवतः वे उससे कहीं अधिक उपलब्ध हैं।

मनुष्य शरीर की असामान्य शुद्धि नहीं कर सकता, जिसके द्वारा कुछ प्राणी अपने यौवन की अविच्छिन्नता को सुरक्षित रखते हैं; परन्तु वह अवकाश व परिवर्तन पर अधिक दृढ़ता से बल देकर शेक्सपियर (Shakespeare) द्वारा बताये गये "जीवन को हानि पहुँचानेवाले अप्रिय तत्त्वों" का परिहार कर सकता है। मनुष्य दीर्घ विश्राम भी नहीं कर सकता—जो कुछ पशुओं में आधे-वर्ष का भी हो सकता है—जिसके द्वारा वे थकान के प्रभावों का प्रतिविधान करते हैं, परन्तु वह जितना विश्राम करता है उससे अधिक विश्राम करने का स्वभाव बना सकता है। मनुष्य अपने क्षतिग्रस्त अवयव पृथक् नहीं कर सकता, जैसा कि बहुत-से प्राणियों के लिए अपने जीवन को बचाने के लिए करना सम्भव है, परन्तु अवयवों के अतिरिक्त भी अन्य वस्तुएँ हैं जिन्हें वह छोड़ सकता है। सम्भवतः अकाल वृद्ध होने का बहुत कुछ कारण प्राकृतिक आनन्द के स्रोतों की उपेक्षा करना है क्योंकि "एक आनन्दित हृदय भौतिक जीवन में रस लेने का फल है।" कदाचित् वास्तविक सत्य तो यह है कि हमको अनेक बार "पुनर्जन्म" लेने की आवश्यकता होती है। ●